युग - प्रभा

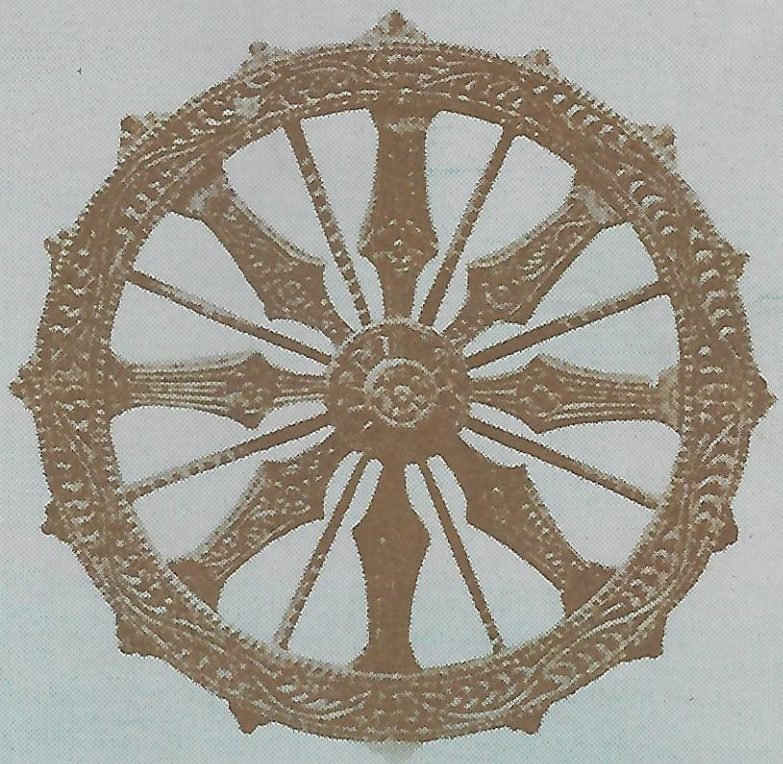

प्रथम रश्मि

उद्देश्य

- पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर से शिक्षा प्राप्त छात्रों तथा देश एवं समाज के विकास में रुचि रखने वाले व्यक्तियों का संगठन।
- संस्था के सदस्यों का शारीरिक एवं मानसिक परिष्कार - उनमें राष्ट्र-निष्ठा से परिपूर्ण समाजोन्मुखी व्यक्तित्व का उत्कर्ष।
- स्वर्गीय पं. दीनदयाल उपाध्याय के विचारों, आदर्शों का प्रचार-प्रसार तथा कार्यान्वयन।
- देश एवं समाज के उत्थान एवं उदात्त जीवन-मूल्यों की स्थापना हेतु जन-जागरण।
- मातृ विद्यालय के विकास में हर प्रकार से सक्रिय सहयोग।
- मातृ विद्यालय में अध्ययनरत एवं सद्यः उत्तीर्ण छात्रों का शैक्षिक एवं शिक्षणेतर मार्गदर्शन।
- समाज की मूलभूत इकाई ग्राम से ग्रामीणों का पलायन रोकने हेतु ग्रामों में न्यूनतम सुविधाओं-स्वच्छता, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं रोजगार की व्यवस्था।
- शहरों की मलिन बस्तियों में शिक्षा, चेतना का प्रसार तथा मूलभूत सुविधाओं की व्यवस्था।
- वर्तमान राष्ट्रीय एवं वैश्विक परिदृश्य पर भेदी दृष्टि रखते हुए विभिन्न घटनाओं पर सम्यक् प्रतिक्रिया तथा समयोचित योजनाओं पर कार्यान्वयन।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्ग न पुनरभवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तनाशनम्।।

युग - प्रभा

१९९४

युग - भारती

(पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय के पूर्व छात्रों की संस्था)

युग - प्रभा

युग - भारती की पत्रिका

प्रथम अंक

२५ सितम्बर, १९९४

संरक्षक

श्री ओम शङ्कर

प्राचार्य, पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर

सम्पादक

नीरज कुमार
संजय अस्थाना

विवेक भागवत
सर्वेश अस्थाना

युग - भारती

नरेन्द्रजीत सिंह
बैरिस्टर

विक्रमाजीतसिंह मार्ग
कानपुर
टेलीफोन : ~~XXXXX~~
311325
14/11/92

श्री नीरज कुमार
सम्पादक 'युग यमुना'
तरुण भारती
कानपुर

माननीय महोदय

आपके पत्र से यह जानकर कि तरुण भारती का तरुण चेतना शिविर 4 से 6 अक्टूबर सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ अत्यन्त प्रसन्नता हुई। मेरी इच्छा तो बहुत थी कि इस शिविर में आप सबके साथ रहता किन्तु अब मेरी अवस्था में प्रवास तथा श्रम कठिनाई से सम्भव होता है।

भारत का भविष्य संस्कारित तरुण ही संभाल पावेंगे। यह देश का दुर्भाग्य ही है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के 45 वर्ष बाद भी देश ने चारित्रिक तथा नैतिक दृष्टि से उन्नति नहीं की है। जो त्याग और बलिदान की परम्परा स्वातंत्र्य संग्राम में निर्मित हुई थी वह राजनीतिक प्रभुता ने समाप्त कर दी। तथा तुलसीदास जी का मत "प्रभुता पाय काह मद नाहीं" सत्य सिद्ध हुआ। आज जहां अधिकार है वहां भ्रष्टाचार आ जाता है ऐसा दिख रहा है। जहां स्वार्थ है वहां सत्य और न्याय

नरेन्द्रजीत सिंह
बैरिस्टर

विक्रमाजीतसिंह मार्ग
कानपुर
टेलीफोन : ६२५२९

की कलि है दी जाती है। हमें समाज हो बना दिले
सकता है अभि यही होने लगा है हम समाज का चेहरा
कैसे बुलावें यह ध्यान में नहीं आता।

आपने अपना प्रथम शिविर चित्रकूट से प्रारम्भ किया
यह बहुत ही उत्तम संकेत है। हमें आज भरत जैसे चरण चिह्नों पर
चलने वाले तरुण चाहिये। जो सब कुछ भगवान् का ही है
ऐसा समझ कर उनकी सेवा को ही अपना परम धर्म समझें।
उनकी तपस्या और त्याग को अपना आदर्श मानें। तुलसी जैसा
भरत के लिये कहा गया कि

"भरतहि होइ न राजमद विधि हरि हर पद पाई"

वैसा ही भारतीय तरुण के लिये कहा जा सके।

मुझे विश्वास है कि दीन दयाल सनातन धर्म
विद्यालय के पूर्व छात्र जो उन्होंने सत्संस्कार विद्यालय
में प्राप्त किये हैं उन्हीं के अनुरूप अपने कर्तव्य को
जानते हुए समाज की सही ढंग से सेवा का चित्र
खड़ा कर सकेंगे। समाज के उत्थान में ही अपना उत्थान
मानेंगे। सारा पुरुषार्थ लोक कल्याण हेतु हो अपने सामने
यही लक्ष्य रखेंगे। कुर्सी के सक्रिय प्रतिमा से पीछे नहीं हटेंगे।
तभी नये भारत का उदय होगा।

आपका
नरेन्द्रजीत सिंह

ॐ

दूरभाष : ७५१५८५४

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

(प्रधान कार्यालय - डा० हेडगेवार भवन, नागपुर-४४० ००२)

सरसंघचालक : प्रो० राजेन्द्र सिंह

सरकार्यवाह : हो० वे० शेषाद्रि

केशवकुंज, झण्डेवाला,
देशबन्धु गुप्ता मार्ग,
नई दिल्ली-११० ०५५

पत्र क्र० :

दिनांक :

14 मई, 1994.

प्रिय राजेश जी,

सस्नेह नमस्कार !

आपका पत्र यथासमय मिल गया था । आप दीनदयाल विद्यालय के पूर्व छात्रों की संस्था 'युग भारती' की ओर से 'युग प्रभा' नामक वार्षिक पत्रिका प्रकाशित करने जा रहे हैं । यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई। मेरी बधाई स्वीकार करें ।

प्रति वर्ष कितने ही छात्र इस विशिष्ट शिक्षा संस्थान के पुनीत वातावरण में संस्कारित होकर विभिन्न विश्वविद्यालयों से अपनी शिक्षा पूर्ण कर समाज जीवन में अपनी योग्यतानुसार दायित्व लेकर कार्य करने लग जाते होंगे । आप अभी 'युग भारती' के माध्यम से उनसे सम्पर्क-सम्बन्ध रखकर उन्हें पं. दीनदयाल जी के महान आदर्शों का स्मरण कराते रहते होंगे तथा अपने वैशिष्ट्यपूर्ण आदर्श कर्तव्य परायण जीवन से सदैव मातृभूमि की सेवा करते रहने की प्रेरणा देते रहते होंगे । परन्तु उनको एक-दूसरे के कार्यकलापों का पता नहीं चल पाता होगा । यह आवश्यक काम अब आप 'युग प्रभा' के माध्यम से सरलता से कर सकेंगे । परस्पर एक-दूसरे के जीवन के अनुभवों को जानकर बहुत कुछ सीखने-सीखाने का अवसर मिलेगा ।

मुझे विश्वास है कि आपकी यह पत्रिका बडी रोचक, प्रेरक तथा शिक्षाप्रद सिद्ध होगी । मैं आपकी सफलता की कामना करता हूँ ।

शुभ कामनाओं सहित ,

आपका ,

[राजेन्द्र सिंह]

बन्धुवर श्री नीरज जी,

सप्रेम नमस्कार,

'तरुण भारती' द्वारा 'युग-प्रभा' स्मारिका प्रकट होने जा रही है और भविष्य में इसे नियमित रूप से प्रकाशित करने का निश्चय हुआ है, यह अत्यन्त हर्षदायक बात है। इस के द्वारा पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय के पूर्व छात्रों को अत्यन्त उपयुक्त एवं मार्गदर्शक विचार आत्मसात् करने का अवसर मिलेगा, ऐसा विश्वास है।

विद्यालय में प्राप्त उच्च एवं उदात्त भारतीय संस्कृति के संस्कारों को अपने भावी जीवन में टिकाने की जटिल चुनौती छात्रों के सामने उपस्थित होना स्वाभाविक है। विशेषतः आज की पाश्चात्य भोगप्रवण एवं अर्थप्रधान जीवन शैली के कुप्रभाव के सामने न झुकते हुए राष्ट्रीय स्वत्व एवं स्वाभिमान के साथ खड़े रहने का साहस उनको दिखाना होगा और उसके प्रकाश में जीवन में सादगी एवं सन्तुष्टि का भाव रखकर 'स्वयं के लिए स्वल्प, समाज के लिए सर्वस्व' के आदर्श का जीता - जागता उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। अपने साथ ही माता-पिता, शिक्षक एवं दीक्षा देने वाले विद्यालय, और पूर्ण जीवन के आधारभूत समाज - इन तीनों की कीर्ति को उज्ज्वल करने हेतु वे अग्रसर हों, यही प्रभुचरणों में प्रार्थना है।

सस्नेह

हो.वे. शेषाद्रि

प्रिय सम्पादक जी,

जय श्री कामतानाथ,

'तरुण-भारती' द्वारा 'युग-प्रभा' नाम की स्मारिका के प्रकाशन की जानकारी प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय के पूर्व छात्रों का यह सत्प्रयास प्रशंसनीय है, स्तुत्य है। ऐसे ही विद्यालयों से समाज प्रकाश पाता है और मर्यादा में रह कर नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास का प्रयास करता है। भारत देश की आस्तिकता ऐसे ही तपोनिष्ठ जीवन बिताने वाले नवयुवकों पर आधारित है।

मैं 'तरुण-भारती' के निर्णय का हृदय से स्वागत करता हूँ। भगवान कामतानाथ जी से उक्त स्मारिका की सफलता के लिये निवेदन करता हूँ कि वे इसके नियमित प्रकाशन के लिये 'तरुण-भारती' को सम्बल दें।

आपका-

अविनाश प्रताप सिंह

प्रबन्धक, रामनाथ गोयनका आश्रमशाला

चित्रकूट, मध्य प्रदेश

अन्तर्निहित

क्रम	रचना	रचनाकार	पृष्ठ
१.	जो घर फूँकै आपना...	सम्पादक	१
२.	'तरुण - भारती' से 'युग - भारती' तक - एक सिंहावलोकन	वीरेन्द्र त्रिपाठी	३
३.	मैं अमा का दीप...	ओम शङ्कर	५
४.	Stray Thoughts	संजय अस्थाना	६
५.	This will make you feel better	—	७
६.	परिवर्तन : राष्ट्रीय ऊर्जा की अभिव्यक्ति	अनिल महाजन	८
७.	पाशबद्ध	अनिल महाजन	१०
८.	नवयुग - सृजन	प्रवीण अग्रवाल	११
९.	समाज का गणित	सर्वेश अस्थाना	१२
१०.	सामाजिक न्याय : आदर्श और वास्तविकता	कैलाश जोशी	१३
११.	बिना सरदार की सेना, बिना सेना के सरदार	मनीष कृष्ण	१५
१२.	IITs : Non-Grata Or High In Demand	संतोष कुमार मल्ल	१६
१३.	Get Out of That Rut	–	१८
१४.	लोकनायक तुलसी	आशीष कुमार सिंह	१९
१५.	नर्मदा की घाटी में अब लड़ाई जारी है	संदीप पाण्डेय	२०
१६.	लक्ष्य कर सन्धान अर्जुन	प्रवीण पाण्डेय	२२
१७.	सरफरोशी की तमन्ना...	सुधीर कुमार विद्यार्थी	२३
१८.	क्रांति की भूमिका	—	२६
	काकोरी के शहीदों के लिये प्रेम के आँसू	—	२६
	आतंक के असली अर्थ	—	२८
	विद्यार्थी और राजनीति	—	३१

१६.	दलित साहित्य का यथार्थ	सूर्यनारायण रणसुभे	३३
२०.	हिन्दी कथा - साहित्य और सामाजिक यथार्थ	श्रीलाल शुक्ल	३५
२१.	उर्दू की आखिरी किताब	इब्ने इंशा	४१
२२.	परिवर्तन (?) की चाह	शुभेन्द्र सिंह परिहार	४३
२३.	कोई मुझसे पॉलिटिक्स में भिड़ावे...	पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'	४४
२४.	नारी की नियति ?	स्मिता सक्सेना	४५
२५.	बीच की एक राह	निर्मल वर्मा	४६
२६.	मैं प्रभात में प्रभा खोजता...	प्रवीण अग्रवाल	४८
२७.	समय का तकाजा है समान नागरिक संहिता	विनोद सुरोलिया	४६
२८.	वैदिक रसायन विज्ञान	उमेश तिवारी	५२
२६.	बचपन	प्रवीण पाण्डेय	५३
३०.	विज्ञान और धर्म परस्पर विरोधी अथवा पूरक	सुनील कुमार मिश्र	५४
३१.	Stop Putting Things Off	जेनिफर बेकर	५७
३२.	आदर्श भारतीय नारी	स्मिता सक्सेना	५८
३३.	निवेदन	—	५६
३४.	हमारे साथी	—	६१

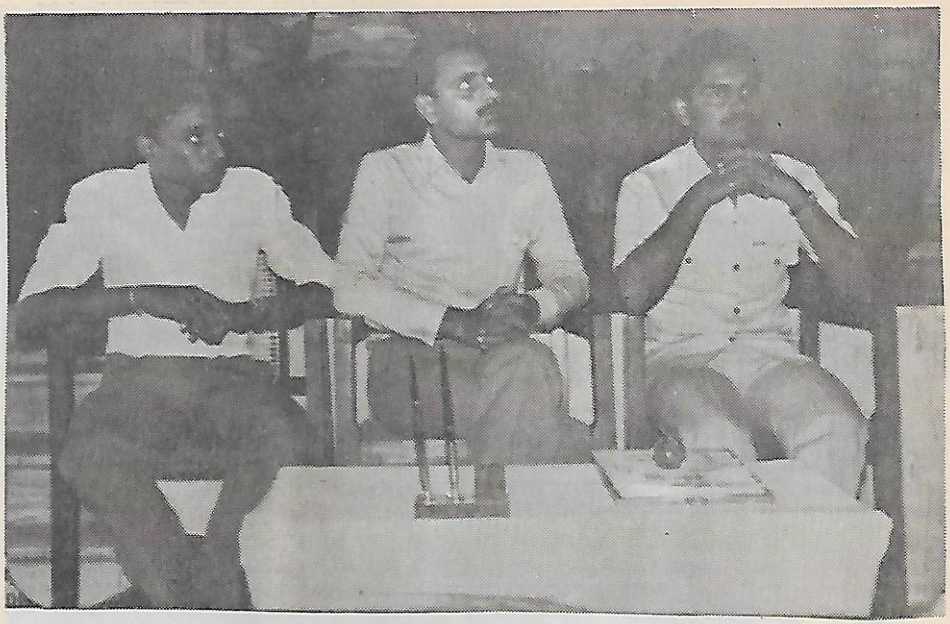

विद्यालय वार्षिकोत्सव का संचालन करते हुए : तरुण भारती के प्रथम अध्यक्ष स्व० राजेश पाण्डेय (मध्य में) तथा मंत्री नीरज कुमार (दायें)

विवेकानन्द भारत परिक्रमा

विवेकानन्द भारत परिक्रमा : राष्ट्र निष्ठा का संकल्प लेते हुए तरुण भारती के सदस्य

तरुण भारती शिविर, चित्रकूट

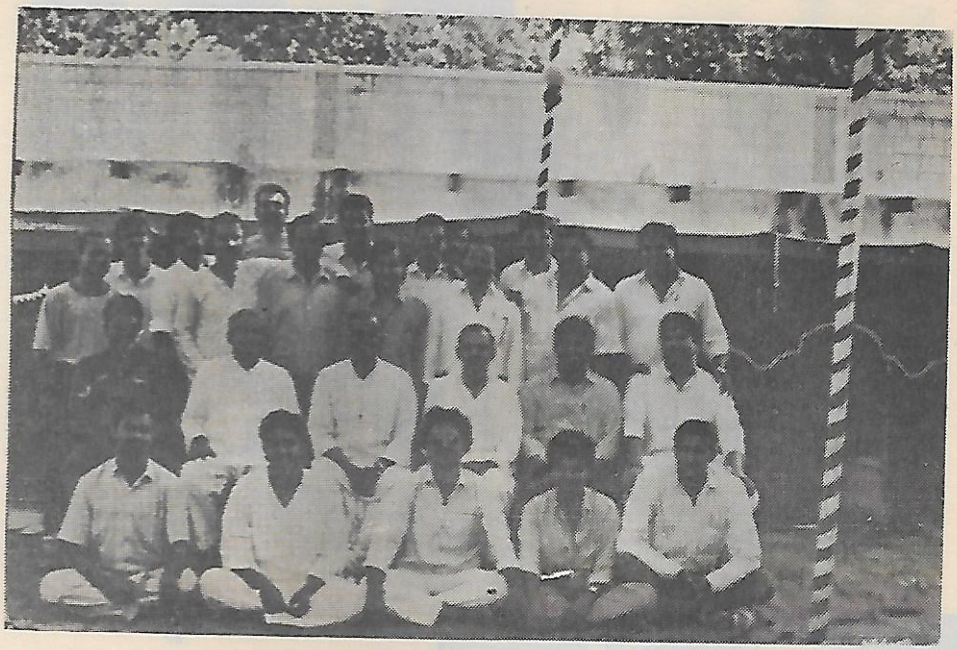

तरुण चेतना शिविर, चित्रकूट

पूर्व छात्र सम्मेलन, १९९३

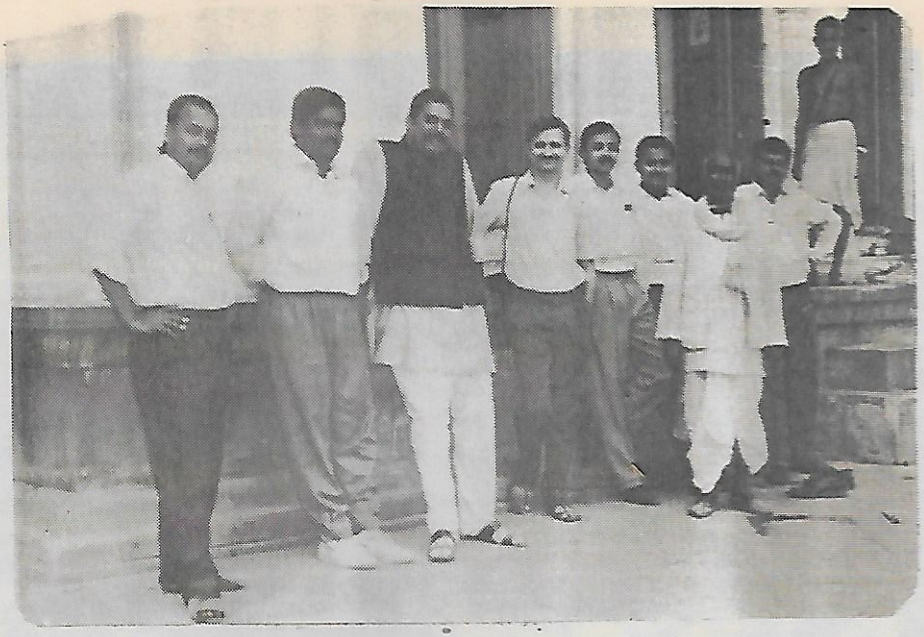

देशाटन - बिठूर

देशाटन - हरिद्वार, ऋषिकेश

सम्पादकीय

जो घर फूँकै आपना...

'पूर्व चलने के बटोही, बाट की पहचान कर ले'। युग-भारती' का उद्देश्य वही है जो विद्यालय का है, जो विद्यालय की स्थापना के पीछे 'बूजी' का था, जो पं. दीनदयाल उपाध्याय का था या जो किसी भी देशभक्त, समाज सेवक का रहा है - देश सेवा और समाज सेवा, अपने देश और समाज के वासियों की सेवा, उनको मूलभूत सुविधायें और मानवोचित सम्मानजनक जीवन जीने का अवसर प्रदान करना। 'कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामार्तनाशनम्' - सभी प्राणियों के दुख-दर्द दूर करने की इच्छा। जिस भी व्यक्ति या संस्था ने इस दिशा में कार्य किया है या कर रहे हैं, किसी भी नाम से, उनका उद्देश्य हमारा उद्देश्य है। सुनने में यह सब घिसा-पिटा लग सकता है क्योंकि भ्रष्ट नेता, ढोंगी समाजसेवक नित्य इसका पारायण करते हैं। पाखण्डपूर्ण लग सकता है क्योंकि स्वार्थों में घिरे व्यक्तियों का अच्छाई पर से विश्वास उठ गया है। यह सब समझते हुए भी हम इस उद्देश्य पर दृढ़ हैं क्योंकि इसका मर्म, इसकी कठिनता जान कर ही हमने इसका वरण किया है।

व्यावहारिक रूप से 'युग-भारती' का उद्देश्य रखा गया है - 'राष्ट्रनिष्ठा से परिपूर्ण समाजोन्मुखी व्यक्तित्व का उत्कर्ष'। अर्थ यह कि युग-भारती के सदस्य जो भी कार्य कर रहे हैं - चिकित्सा, नौकरी, व्यापार, अध्ययन, अध्यापन - वह पूरी लगन और ईमानदारी से करते रहें। अपने क्षेत्र में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करें। यह भी देश और समाज के प्रति एक प्रकार की निष्ठा ही है। पर अपने व्यवसाय के परे शेष राष्ट्र और समाज को आँखों से ओझल न होने दें। अपने वैयक्तिक, पारिवारिक खोल से बाहर आयें। सोचें कि देश-समाज-सेवा हेतु वे क्या योगदान दे सकते हैं। केवल पैसा कमाना, प्रतिष्ठा प्राप्त करना, अपने या परिवार के लिए भोग के साधन जुटाना ही उनका लक्ष्य न रह जाये।

इसीलिये 'युग-भारती' बहुतायत में उपलब्ध 'ओल्ड ब्वॉयज़ एसोसियेशन' किस्म की चीजों से अलग है। 'युग-भारती' कोई क्लब नहीं है जहाँ सारे सदस्य यदा-कदा मिलें, चुटकले सुनायें, व्यापारिक सम्पर्क बनायें, अच्छा खाना खायें और अपने रस्ते लगें। 'युग-भारती' तो वह यज्ञ है जहाँ आकर कोई भी अपना तन-मन-धन-सर्वस्व देश-समाज को अर्पण कर दे। पर हम जानते हैं कि इस जड़ीभूत समाज में किसी से ऐसी आशा रखना दिवास्वप्न ही है, इसीलिए प्रारम्भ में सदस्यों से न्यूनतम त्याग अपेक्षित है जड़ता का, मोह का - वैचारिक जड़ता का, धन, परिवार, सुविधाओं के अत्यधिक मोह का। तदनुसार 'युग-भारती' ने योजना की है नियमित बैठकों की जिनमें माह में कम से कम एक-दो बार सदस्यगण अपना सब कुछ भूलकर दो-तीन घंटे एक साथ व्यतीत करें। सामाजिक विषयों पर चर्चा करें। नियमित अध्ययन करें। अपने विचारों को लिखने का प्रयास करें। अपने परिवेश का अध्ययन करें। 'युग-भारती' ने योजना की है देशाटन की जिसमें सदस्य वर्ष में कम से कम एक बार कुछ दिन तक परिवार, व्यवसाय छोड़कर देश-भ्रमण करें। 'युग-भारती' ने योजना की है अन्य कार्यक्रमों की जिनमें सदस्य अपने मातृ विद्यालय के विकास की चिंता करें, अन्य सदस्यों से सम्पर्क करें, पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित करें, शरीर-मन-बुद्धि की जंग छुड़ायें।

प्रथम दृष्टि में ये सब योजनाएं निरुद्देश्य, महत्वहीन और बड़ी आसान लगती हैं पर हमारा अपना अनुभव बताता है कि इनमें भाग लेने वाले भी उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। शेष के आगे न आने का कारण यह नहीं है कि वे बड़े उत्कृष्ट अथवा उदात्त कार्यों में व्यस्त हैं (सोचते वे यही हैं!) बल्कि यह है कि जंग इतना गहरे खा चुका है कि उनको वही मूल तत्व लगने लगा है। भौंरे और गुबरैले की कथा के गुबरैले की भाँति मल की दुर्गन्ध ही उनके लिये अब सर्वश्रेष्ठ गन्ध है, पुष्प-गन्ध उनके लिये अपना अर्थ खो चुकी है।

'युग-भारती' के ताजे अनुभव बताना यहाँ समीचीन होगा। कई सदस्यों को, जो यदा-कदा ही दर्शन देते हैं

लगता रहता है कि कुछ काम तो होता नहीं, केवल बातें होती हैं। ऐसे में बैठकों के लिये आने, जाने, बैठने में तीन घण्टे खर्चना उन्हें समय की बरबादी लगती है। जो सदस्य बैठकों और बात-चीत को व्यर्थ समझते हैं, क्या कोई काम दिये जाने पर वे अपना धन या समय उसमें लगायेंगे ? कदापि नहीं! क्योंकि ऐसे काम भी उनको शायद व्यर्थ जान पड़ेंगे। ऐसे तथा अन्य सभी लोगों से हमारा यही कहना है कि यह तो जमीन की तैयारी है। इसीलिए प्रारम्भिक जोर है बैठकों व अन्य वर्तमान कार्यक्रमों के माध्यम से सदस्यों को उनके संकुचित दायरे से उत्तरोत्तर बाहर लाने पर। इन कार्यक्रमों में भागीदारी का लाभ यह भी है कि सदस्यों में पारिवारिक भाव और परस्पर विश्वास विकसित होता है, टीम भावना बनती है - एक-दूसरे का स्वभाव, कार्य प्रणाली, विचार-प्रक्रिया समझ में आती है, कौन किस कार्य के लिये उपयुक्त है यह दिखता है, दिया गया छोटे से छोटा कार्य समय से, जिम्मेदारी से करने की भावना पल्लवित होती है, अपने को छोटा या अकेला मानने की भावना दूर होती है। 'युग-भारती' को ऐसे लोग नहीं चाहिए जो केवल 'बड़ी' बातें या 'बड़े' स्तर पर काम करना चाहते हों, बजाय विचार-विमर्श या नियमित अध्ययन - लेखन के।

अभी तक 'युग-भारती' की सदस्यता विद्यालय के पूर्व छात्रों को ही दी गयी है, परन्तु भविष्य में 'युग-भारती' की सदस्यता हेतु अर्हता का एकमात्र मापदण्ड होगा : देश-समाज के प्रति लगाव, सेवा की भावना और त्याग का साहस। विद्यालय के पूर्व छात्रों को भी आँखें बंद करके सदस्य नहीं बनाया जायेगा। 'युग-भारती' के उद्देश्यों के प्रति समर्पित पूर्व छात्र ही सदस्यता के पात्र होंगे। अन्य कोई भी लोग जो पूर्व छात्र नहीं हैं पर हमारे उद्देश्यों के प्रति सहानुभूति रखते हैं, आग्रह पूर्वक सदस्य बनाये जायेंगे।

अंत में हम विनम्रता पूर्वक निवेदन करते हैं कि न तो हम किसी के धन-वैभव से प्रभावित हैं न सामाजिक प्रतिष्ठा से। तथाकथित सम्पन्न लोगों के किये - धरे कुछ होता तो 'युग-भारती' की आवश्यकता ही न होती। हम तो खोज में है उनकी जो सम्पन्न हैं मानवीय संवेदना से, व्यावसायिक ईमानदारी से। इसीलिये, जो अहम् त्याग सकता हो, मैं-मेरा की भावना छोड़ सकता हो, वही करे हिम्मत हमारे साथ चलने की-

'कबिरा यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे हाथ करि, तब पैठे यहि माहिं ।।'
'कबिरा खड़ा बजार में, लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूँकै आपना, चलै हमारे साथ।।'

पुनश्चः

'युग-भारती' की प्रथम रश्मि आपके समक्ष है। सदस्यों के विचार तो इसमें हैं ही, साथ हैं सामयिक प्रश्नों से जूझती संकलित रचनायें। सम्पादक होने के नाते हम रचनाओं के लिये जिसे भी धन्यवाद देंगे उसी के नाराज होने का भय है। पर संकलित रचनाओं के लिये उनके लेखकों, प्रकाशकों का धन्यवाद तो कर ही सकते हैं भले ही वह उन तक पहुँच न पाये। साथ ही सबसे अधिक धन्यवाद के पात्र होंगे आप यदि पत्रिका को ध्यान से पढ़ कर, गुन कर इस राष्ट्र-यज्ञ में आगे आयेंगे। अंत में हम यही कह सकते हैं कि पत्रिका का सौष्ठव रचनाकारों, संकलनकर्ताओं और मुद्रकों के परिश्रम का सुफल है और खामियाँ हमारी लापरवाही और बिना योजना के काम करने की आदत का दुष्परिणाम।

प्रत्येक रचना तथा पूरी पत्रिका के संबंध में प्रतिक्रियाओं के साथ आपकी रचनायें भी यदि हमें मिलेंगी तो आगामी अंक आपको अधिक सुन्दर, अधिक विचारोत्तेजक और अधिक आत्मीय लगेगा, हम यह विश्वास दिलाते हैं।

-सम्पादक

'तरुण-भारती' से 'युग-भारती' तक - एक सिंहावलोकन

– वीरेन्द्र त्रिपाठी

युगद्रष्टा, एकात्म मानववाद के प्रणेता पं० दीनदयाल उपाध्याय की स्मृति में उनके जीवनादर्शों को मूर्त रूप देने का स्वप्न लेकर पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय की स्थापना की गई थी।

संस्कारपूर्ण शिक्षा और देश-प्रेम की भावना के जिस दीप को माध्यमिक शिक्षा के समय किशोरवय में प्रज्वलित किया गया उसे जीवन भर जलाये रखने के लिये आवश्यक था विद्यालय के पूर्व छात्रों से नियमित सम्पर्क। यही उद्देश्य लेकर वर्ष १९७८ में तत्कालीन प्राचार्य श्री ओमशङ्कर जी ने 'तरुण भारती' नाम से पूर्व छात्रों की संस्था के गठन की कल्पना की। राष्ट्रोत्थान का संकल्प लेकर निष्ठापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करने वाले व्यक्तियों का निर्माण करने वाली इस संस्था का प्रथम अधिवेशन विद्यालय परिसर में वर्ष १९८३ में सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर तरुण भारती के प्रथम अध्यक्ष स्व० राजेश पाण्डेय एवं महामंत्री नीरज कुमार के कुशल संचालन में लगभग ८० पूर्व छात्रों ने एक बार पुनः अपने को उसी विद्यालय में जहाँ " जियो देश हित मरो देश हित" का मंत्र मिला था, पाकर फिर से अपने संकल्प को दोहराया। प्रति वर्ष पं० दीनदयाल जी के जन्मोत्सव (विद्यालय - वार्षिकोत्सव) पर ही तरुण भारती का सम्मेलन रखने का निर्णय भी इसी अधिवेशन में हुआ।

कार्य की गति कभी तेज थी तो कभी धीमी परन्तु कार्य निरंतर चल रहा था। इस बीच हमें वर्ष १९८६ में मा० यज्ञ दत्त जी शर्मा (पूर्व राज्यपाल, उड़ीसा) का अति प्रेरक मार्ग-दर्शन मिला। मा० शर्मा जी ने 'तरुण भारती' से जो आशायें की हम उनको पूरा कर सकें और राष्ट्र को विश्वगुरु के स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित कर सकें, यही हमारा प्रयत्न रहा है। यहाँ पर मैं दो और प्रेरक कार्यक्रमों का उल्लेख अवश्य करना चाहूँगा। १९९१ में 'तरुण भारती' का वार्षिक सम्मेलन उपस्थित सदस्यों को एक नया आत्म विश्वास प्रदान करने वाला रहा। मुख्य अतिथि मा० अटल बिहारी वाजपेयी के साथ प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम चल रहा था। लगातार ऐसे ही प्रश्न आ रहे थे कि हम इन विपरीत परिस्थितियों में अपने को कैसे राष्ट्रकार्य से जोड़ें, कैसे समाज के लिये अधिक से अधिक योगदान कर सकें। अटल जी एक क्षण रुके, फिर आँख बंद कर बोले, "जो अपना साक्षी अन्तरात्मा है उससे पूछो हम क्या करें"। कितना सटीक और स्पष्ट उत्तर था! सही है, अपने मन की शक्ति ही हमारे लिए कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद स्पष्ट कर सकती है।

१९९२ में विवेकानंद केन्द्र, कन्या कुमारी ने स्वामी विवेकानन्द द्वारा शिकागो सम्मेलन के पूर्व की गयी भारत परिक्रमा के सौंवे वर्ष के उपलक्ष्य में उनकी उसी परिव्राजक मुद्रा की विशाल मूर्ति के साथ भारत परिक्रमा का कार्यक्रम बनाया। इस विशिष्ट आयोजन में परिक्रमा दल का तीन दिवसीय कार्यक्रम कानपुर में भी होना था और दायित्व दिया गया वर्तमान प्राचार्य मा० ओमशङ्कर जी को। उन्होंने ठीक ही सोचा कि तरुण भारती को प्रेरित करने हेतु इससे अच्छा भला कब अवसर मिलेगा। वास्तव में इस कार्यक्रम ने ही तरुण-भारती को एक नई ऊर्जा, एक नवीन चेतना प्रदान की।

तरुण भारती के संख्या में कम परन्तु ऊर्जस्वित, निष्ठावान नवयुवकों ने इस कार्यक्रम को वह कलेवर प्रदान किया कि परिक्रमा दल के सम्पूर्ण भारत में आयोजित सभी कार्यक्रमों में से पं० दीनदयाल विद्यालय का वह कार्यक्रम सर्वाधिक प्रभावी एवं प्रेरणास्पद बन सका। विद्यालय से पाये संस्कारों का ही परिणाम था कि इसी कार्यक्रम में 'तरुण भारती' के इक्कीस सदस्यों (२० पूर्व छात्र, १ पूर्व अध्यापक) ने स्वेच्छा से जीवन पर्यन्त राष्ट्रनिष्ठा के साथ जीने एवं राष्ट्र भावना को प्रदीप्त रखने का संकल्प लिया। विवेकानन्द केन्द्र, कन्याकुमारी की अध्यक्षा डॉ० एम०

लक्ष्मी कुमारी द्वारा तिलक लगाये जाने के पश्चात् अपने पूर्वजों और स्वर्णिम अतीत का स्मरण करते हुए राष्ट्रसेवा का संकल्प लेने वाले इन सदस्यों के नाम निम्नवत् हैं : राजेश गर्ग, सुनील गुप्त, गोपाल कृष्ण शुक्ल, वीरेन्द्र त्रिपाठी, दिनेश सिंह भदौरिया, दिनेश प्रताप सिंह, शुभेन्द्र सिंह परिहार, प्रवीण गंगवार, अक्षय माथुर, संजय बाजपेयी, गौरव गुप्त, चक्रपाणि सिंह, अरुण त्रिपाठी, मुकेश उत्तम, अर्जुन सिंह, महेन्द्र सिंह, दुर्गेश बाजपेयी, दिव्य मिश्र, विकास तिवारी एवं शशिभाल सिंह।

वर्ष १९९२ के ही वार्षिक सम्मेलन में मार्गदर्शन हेतु हमारे बीच उपस्थित थे लाखों देशभक्तों के प्रेरणास्रोत पूर्ण - रूपेण राष्ट्रसेवा में संलग्न राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह सर कार्यवाह मा० कुप. सी. सुदर्शन जी, जिन्होंने हमें किस प्रकार कार्य करना होगा इस विषय पर तो दिशानिर्देश दिया ही, साथ ही साथ हमारी 'तरुण भारती' को तरुणों की सीमा से मुक्त करने का विचार देते हुये इसे 'युग भारती' नाम दिया।

इसी बीच अक्टूबर ३ से ६ तक चित्रकूट में 'तरुण भारती' के संयोजन में होने वाले 'तरुण चेतना शिविर' की तैयारियाँ पूर्ण हो चुकी थीं। संरक्षक मा० ओमशङ्कर जी, गोपाल कृष्ण शुक्ल (महामंत्री), सुनील गुप्त (उपाध्यक्ष), वीरेन्द्र त्रिपाठी (मंत्री), अजय शङ्कर दीक्षित तथा श्री अंगद सिंह (प्रधानाचार्य, बी.एन.एस.डी. शिक्षा निकेतन) चित्रकूट में शिविर की व्यवस्था में लगे हुये थे। इस 'तरुण चेतना शिविर' में अपने विद्यालय तथा बी.एन.एस.डी. शिक्षा निकेतन के छात्रों, अध्यापकों एवं तरुण भारती के सदस्यों ने भाग लिया। तीन दिवसीय इस शिविर में शारीरिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों द्वारा वास्तव में शिविर के नाम को सार्थक किया गया।

बौद्धिक गोष्ठियों में जहाँ शिविरार्थियों ने अपने विचार प्रस्तुत किये वहीं हर गोष्ठी में विद्वानों ने निष्कर्षात्मक वक्तव्यों से सारी शंकायें शमित करने का प्रयास किया। समाज, धर्म, राजनीति, अर्थ एवं शिक्षा जैसे सामयिक विषयों पर हुई इन विचार गोष्ठियों में हमें चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० कपूर, सुप्रसिद्ध समाज शास्त्री डॉ० त्रिलोकी नाथ सिन्हा तथा विवेकानन्द भारत परिक्रमा से ही हमारे सम्पर्क में आये युवा वैज्ञानिक प्रो० गणेश बागड़िया जैसे व्यक्तियों का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ। सांस्कृतिक कार्यक्रम भी स्तरीय एवं रोचक रहे। इस प्रकार यह शिविर न केवल पूर्व छात्रों के लिये वरन् वर्तमान छात्रों के लिये भी एक अविस्मरणीय अनुभव रहा। शिविर समाप्ति पर मा० सुदर्शन जी द्वारा प्रदत्त विचार से संगठन का नाम 'युग-भारती' कर दिया गया और इसी समय यह भी निर्णय हुआ कि हर मास के रविवार को सभी सदस्यों की तथा तीसरे रविवार को कार्यकारिणी की नियमित बैठक हो।

'युग-भारती' को गति प्रदान करने के उद्देश्य से संरक्षक श्री ओमशङ्कर जी ने अपने आवास का एक कक्ष युग भारती के कार्यालय हेतु सौंप दिया। नियमित बैठकों में नये विचार आते गये और जुड़ती गई नई उपलब्धियाँ। ग्रामों में ही ८० प्रतिशत देशवासी हैं, यह जानते हुए भी उनके विकास पर सबसे कम ध्यान दिया जा रहा है, यह विचार कर 'ग्रामोदय से ही राष्ट्रोदय' का मंत्र लिये युग- भारती ने भिन्न-भिन्न ग्रामों का निरीक्षण कर स्थान-स्थान पर अपनी योजनायें शासन से सहायता लेकर आरम्भ करने का निश्चय किया है। अभी इस योजना में उन्नाव जिले के कुछ ग्रामों में कार्य हेतु प्रयत्न चल रहे हैं। वर्ष १९९३ के वार्षिक सम्मेलन में सुप्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता एवं चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय के कुलाधिपति मा० नाना जी देशमुख ने ग्राम्य विकास के प्रकल्पों में रुचि लेने पर ही बल दिया और आशा की कि युग-भारती के सदस्य न केवल व्यक्ति वरन् अपने परिवार से ही समाज-सुधार की नींव डालें तथा अपनी पत्नी, अपने बच्चों सभी को इस समाज रचना, और राष्ट्रोत्थान के कार्य से जोड़ कर कार्य करें।

सामायिक समस्याओं पर युग भारती का क्या विचार है?- भावी कार्यक्रम क्या हैं? इन सारी बातों को अपने सभी साथियों एवं शुभ चिंतकों तक पहुँचाने का उद्देश्य लेकर युग-भारती का प्रकाशन विभाग आरम्भ हो तथा एक पाक्षिक पत्र का प्रकाशन जुलाई १९९४ से ही कर लिया जाये यह विचार बना २९ तथा ३० मई को हरिद्वार में सम्पन्न राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक में। कार्यकारिणी सदस्य विवेक भागवत तथा अध्यक्ष राजेश गर्ग के प्रयत्नों से १५ जुलाई, १९९४ से यह पाक्षिक आरम्भ हो गया। भाई नीरज कुमार के प्रयत्नों से यह वार्षिक पत्रिका युग प्रभा आपके हाथों में है।

विचारवान, चरित्रवान, ऊर्जावान राष्ट्र प्रेमियों का यह संगठन युग-परिवर्तन में सहयोगी होगा, ऐसा हम सभी का विश्वास है और सतत प्रयास है।

मैं अमा का दीप...

—ओम शङ्कर

मैं अमा का दीप बनने की ललक ले सो रहा हूँ,
तुम प्रभा के गीत गाते जा रहे हो, भा रहे हो।

मैं सपन की श्रृंखला हूँ, तुम सृजन की स्वर्ण वेला।
तुम अकेले में मगन हो, भीड़ में भी मैं अकेला।
मैं विमन हूँ, तुम प्रमन हो, घर लुटाते जा रहे हो, भा रहे हो।
मैं अमा का...

मैं उदासी हूँ युगों की, क्षणों का उल्लास हो तुम।
शिशिर का पतझार मैं हूँ, सुरभिमय मधुमास हो तुम।
मैं मनन हूँ, तुम कथन हो, खिलखिलाते जा रहे हो, भा रहे हो।
मैं अमा का...

गीत की परिकल्पना मैं राग की अनुगूँज तुम हो।
भावना हूँ मैं बसन्ती, काकली की कूज तुम हो।
मैं गगन हूँ, तुम चमन हो, महमहाते जा रहे हो, भा रहे हो।
मैं अमा का...

मान का सन्धान मैं, अभिमान की अवधारणा हो।
ज्ञान का सूना दिया हूँ, नेह की अवतारणा हो।
मैं भुवन हूँ, तुम धरा हो, नाचते इठला रहे हो, भा रहे हो।
मैं अमा का...

सत्य का आदर्श मैं, तुम तथ्य का परिपथ सुहावन।
तत्व के विग्रह बने तुम रंजना की परिधि भावन।
दिग्भ्रमित मैं, तुम शमित हो, गुनगुनाते जा रहे हो, भा रहे हो।
मैं अमा का... □□□

Stray Thoughts

-Sanjay Asthana

As can be well comprehended, the whole episode brought feelings of disgust and depression, with a sense of finality, as though the strands of hope and faith had been severed and one was suddenly left hanging in space. But I found the foothold and clambered back over the edge. Others probably tried to help but the effort was essentially mine.

The black skies have turned to grey and I can even see a tint of pink and gold in the east. A new day is dawning and the dark night is behind me. Birds are singing and the flowers have opened their petals to reveal magnificent colours. World is still a congenial and beautiful place. The mind recalls a lovely quote- "Don't be dismayed at good byes. A farewell is necesary so that we can meet again. And meeting again, after moments or after a lifetime, is certain for those who are friends."

Aloofness has been my shield throughout. But its price, a heavy one, was loneliness, which is a creative person's occupational hazard. But that too can be turned into a rare creative drive. The pain one has to go through before one finds his bearings again certainly hurts but one should be mature and strong enough to endure it. One has to be. There is no other way.

We can't shape our lives as we desire, we can only live it as it comes to us each day, each moment. With time only one turns mature enough to realize this. Still, one is always free to change his mind and to choose a different future, if not the past. Moreover, one should never turn away from a possible future before he has made certain that it is not the one for him. If one can conceive it and one's heart can believe it then one can achieve it.

Events sometimes may drive us into a phase of life we should be spared of. But none of us can undo the things life has done to us. They are done before you realize it, and once they are done they make us do other things until at last everything comes between you and what you'd like to be, and you lose your true self for a good sometime, if not forever. But we should keep in mind that life is under no obligation to give us what we expect. We take what we get and are thankful. It is no worse than it is.

Human life is so deep and vast that it can't be measured by any scale of human world. Who can fathom what fate has in store for each one of us? Some are lucky but most of us have to pull through, bruised and battered but also stronger by the cruel knocks of life. One should not try to dig up the past memories, pleasant or unpleasant, for the past is over and gone. Recollections are related to time and time is never still and waiting. Yesterday is over and today will be gone tomorrow. One should not try to hold on to memories and moments but should rather let them drift away with the currents of time. They should be left behind for that's where they belong. All the events of one's life are there because one has drawn them there. What one chooses to do with them is upto oneself. Associations that are finished will

bring no happiness or joy, only despair of what might have been. One should never hope for things to last forever, as that's the way it is, always. One should look for strength and happiness in things that can be seen and felt now. Watch the beauty of sunset but do not mistake it for the one that raced your heart once. Take it as a new gift, a new sunset, and love it for the beauty it is giving you at this here moment. See the blue colour of the ocean and appreciate the tranquility which holds down its real strength and might.

Yesterday's dreams may today be smashed into a million fragments, yet dare to dream of a new dawn, then get up and follow that dream on practical grounds, without wasting time in self pity. You are a child of the universe, no less than the stars and the trees and you have a right to be here. And whether or not it is clear to you, the universe is unfolding as it should. Life is yours to live, yours only once. So live it and love it for each moment of it. There will be good times and bad times and if one can learn to take them in self-stride, the smile and the hope and the faith will be back in life. One is led through his life by the inner learning. Creature, the playful spiritual being, that is one's real self. Therefore be at peace with Almighty, whatever you conceive Him to be and whatever your labours and aspirations. Keep peace with your soul and go placidly amid the noise and haste. With all its sham, drudgery and broken dreams, it is still a beautiful world.

Be careful, but more imprtant, be yourself, and strive to be happy.

This Will Make You Feel Better

If you sometimes
get discouraged,
consider this fellow :
He dropped out
of grade school.
Ran a country store.
Went broke.
Took 15 years
to pay off
his bills.
Took a wife.
Unhappy marriage.
Ran for House.
Lost twice.
Ran for Senate.
Lost twice.
Delivered speech
that became
a classic.
Audience indifferent.
Attacked daily
by the press
and despised
by half the country.
Despite all this,
imagine
how many people
all over the world
have been
inspired
by this awkward,
rumpled,
brooding man
who signed his name
simply,
A. Lincoln

परिवर्तन : राष्ट्रीय ऊर्जा की अभिव्यक्ति

— अनिल महाजन

भारत संक्रमण के दौर में है - इस तरह के विचार पिछले कई दशकों से प्रचारित हो रहे हैं। यदि यह संक्रमण परिवर्तन के पूर्व की अवस्था है जिसमें कुछ-कुछ बिखराव होता है, तो विश्व का प्रत्येक समाज हमेशा ही इस अवस्था में रहता है क्योंकि परिवर्तन तो प्रवाह है। रुक कैसे सकता है? हमारे देश के साथ भी यही बात है। हाँ, परिवर्तन का प्रकटीकरण (Manifestation) अपने रूप में विभिन्नता रखता है। यह तथ्य सभी समाज-व्यवस्थाओं की अपनी निजी वैयक्तिकता है। और इसे संजोकर रखना उनकी जिम्मेदारी भी है और उनके समय की आवश्यकता भी।

जिस तरह से आदमी की चेतना (Consciousness) का - यदि वह प्रयत्न करे तो - विकास होता रहता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति भी अपनी चेतना के विकास की चिन्ता रखती है। प्रकृति अपनी इस चाह के लिए मानव को भी चुनती है और इसके माध्यम से वह समाज-व्यवस्था को नियंत्रित करना चाहती है। इसके प्रति आदमी का सहयोग-विरोध उसकी प्रतिक्रियात्मक ऊर्जा के रूप में सञ्चित हो-होकर विभिन्न काल-खण्डों में अपनी अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में करता है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया (Thesis - Antithesis) के द्वन्द्व से जो भी उभरकर सामने आता है, उसे हम विकास का (या सदावाही क्रान्ति का) अगला चरण मानकर स्वीकार कर लेते हैं। विकास की यह परिभाषा सभी सतहों पर, सभी स्तरों पर एकसमान रूप से लागू होती है। पर यह क्रम चलता रहता है - पृथ्वी के प्रत्येक बिन्दु पर। और जब हम एक देश की बात करते हैं तो इसी ऊर्जा का स्वरूप विभिन्न आन्दोलनों में दीखता है।

हमारे देश की व्यवस्था भी पिछली कई शताब्दियों से कुछ नया खोज पाने की प्रक्रिया में है। इस नयी व्यवस्था की स्थूलता का मापदण्ड हमने पश्चिम को मान लिया है। दरअसल, पश्चिम को - विशेष रूप से अमेरिका को - कभी भी अपनी पहचान या अस्तित्व को परिभाषित कर, समझ-अपनाकर आगे बढ़ने के झमेले में नहीं पड़ना पड़ा। यह उनके लिए भौतिक उन्नति के रूप में वरदान बनकर आया। उनका निर्माण नूतन था, हमें पुनर्निर्माण करना है (पैबंद नहीं लगाने हैं)। पहले तो, भारत को विदेशी राज-व्यवस्था के विरुद्ध संघर्षरत रहना पड़ा। पहले युद्ध थे, फिर उनका स्थान राजनीतिक आन्दोलन ने ले लिया। और फिर, स्वतंत्र होने के पश्चात् अपने राजनीतिक नेतृत्व की अपने 'स्व' के प्रति उदासीनता और उसका स्वार्थपूर्ण आचरण। इन सभी कारकों ने - ऊपरी सतह पर - भारतीय जनमानस का राजनीति से मोहभंग कर दिया है। अब यह बात समझ में आती है कि राष्ट्रीय मंच पर परिवर्तन सिर्फ सामाजिक परिवर्तन द्वारा ही सम्भव है क्योंकि राजनीति स्वयं में एकांगी है।

राजनीति सत्ता के स्तर पर कुछ अजूबे दिखा सकती है। इन अजूबों की भी अपनी सीमा है। साथ ही, राष्ट्रीय परिदृश्य पर वही आन्दोलन मुखर हो सकता है जिसमें जनाभिव्यक्ति हो, लोगों की भागीदारी हो, अन्यथा अस्तित्ववाद, समाजवाद की तरह किताबों तक ही आन्दोलन सिमटकर रह जाते हैं। व्यक्ति आधारित रचनायें, आन्दोलन (संस्थायें भी) एक चिंगारी की तरह पल भर के लिए चमक तो सकते हैं किन्तु उनमें निरन्तर रूप से प्रकाश देते रहने की सामर्थ्य नहीं हुआ करती। देश के जनमानस की ऊर्जा की आज जो अभिव्यक्ति हमें दिख रही है - रामजन्मभूमि आन्दोलन - परिवर्तन की उसी प्रक्रिया की ओर बढ़ाये गये कदमों में से एक है। ऊपर जिन कारकों को वर्तमान राजनीतिक दशा के लिए दोषी माना गया है, उन्होंने हमारी समाज-व्यवस्था को भी बुरी तरह प्रभावित किया है। ऊपर से संतुष्ट सा दिखने वाला इस देश का आम आदमी कितनी कसमसाहट लिये चल रहा है, कितनी नकारात्मकता संजोये चल रहा है - इसका अन्दाजा लगाना भी कठिन है। सदियों से हिन्दू समाज की विभिन्न तहों में

आ समायी इस कसमसाहट, नकारात्मकता ने जिस प्रतिक्रियात्मक ऊर्जा को संजोये रखा - हमारे वर्तमान आन्दोलन उसी का प्रकट रूप हैं। फ्रांसीसी क्रान्ति के पूर्व वहाँ के समाज की मनोदशा भी कुछ ऐसी ही थी। आज यहाँ ढाँचे का टूटना इसी प्रतिक्रियात्मक ऊर्जा के लक्षांश का स्थूल रूप है। इससे कई मिथक टूट रहे हैं, कई टूटेंगे।

ढाँचे के ढहने के बाद देश का अग्रदूत मानस जो कुछ कह - सोच रहा था, वह झुठला गया है। तात्कालिक लाभ तो मुस्लिम समुदाय को हुआ है। उसकी एक बड़ी आवश्यकता पूरी हुई है। इस समुदाय की अभी तक शान्त, दबी आधुनिक विचार वाली आवाज़ें सुनाई देने लगी हैं। कुछ-कुछ खुलापन सामने आने लगा है। उलेमाओं की बात ब्रह्म सत्य नहीं रह गयी है। यह एक शुभ संकेत है। स्वतंत्रता के बाद के सबसे बड़े इस जनान्दोलन ने सम्पूर्ण भारतीय जनमानस में गलत बात को ललकारने की शक्ति भी दी है। शेषन - खैरनार इसी शक्ति के मुखरित स्वर हैं। देश के मानस ने गम्भीरता से, भारतीय दृष्टि से शोध की ओर देखना प्रारम्भ किया है। भारतीयता की परिभाषा, सेक्युलरिज्म को परिभाषित करने की माँगें इसी अकादमिक खुलेपन की प्रतीक हैं। लोग नेतृत्व के लिए राजनेताओं के मुखापेक्षी नहीं रह गये हैं। नेतृत्व तो सेनाओं, कबीलों का होता है, परिवर्तन के तो सब भागी होते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान हलचल में सिर्फ घटित होता ही दिखाई देता है। जिसे हम दैवी घटना मान लेते हैं वह होता है सिर्फ संचित ऊर्जा के रूपान्तरण का स्थूल प्रकटीकरण। और फिर, यदि पुराने गुम्बद नहीं ढहेंगे, तो नयों के लिए रास्ता कैसे बनेगा।

लेकिन, हम भारतीयों का एक स्वभाव भी है - चलकर ठहर जाना। इस सम्पूर्ण सञ्चित ऊर्जा का अपव्यय न हो पाये इसका उत्तरदायित्व प्रत्येक भारतीय का है और आन्दोलन से जुड़े नेतृत्व का विशेष रूप से। हमने कई अवसर खोये हैं और ऊर्जा को व्यर्थ बह जाने दिया है। सिर्फ हिन्दुओं तक इस आन्दोलन को कोष्ठायित करके देखना गलत होगा। फिर भी, यदि यह भी सकारात्मकता न दे पाया तो देश की ऊर्जा प्रकटीकरण के लिए कोई अन्य रूप लेकर परिवर्तन तो लायेगी ही - आज नहीं तो कल।

□□□

'हम तोते के समान कई बातें बोल जाते हैं, पर उनमें से एक को भी कार्य में नहीं उतारते। केवल मुख से कह देना और आचरण में न लाना - यह हमारा एक स्वभाव ही बन गया है। इसका क्या कारण है? - शारीरिक दुर्बलता। इस प्रकार का दुर्बल मस्तिष्क कुछ भी नहीं कर सकता। हमें उसको शक्तिशाली बनाना होगा। सब से पहले हमारे नवयुवकों को बली होना चाहिए। धर्म फिर बाद में आएगा। तुम गीता के अध्ययन की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा स्वर्ग के अधिक समीप पहुँच सकोगे। जब तुम्हारी मांसपेशियाँ कुछ मजबूत हो जाएँगी, तब तुम गीता को अधिक अच्छा समझ सकोगे। जब तुम्हारे खून में कुछ जोर आ जाएगा, तब तुम कृष्ण की महान् प्रतिभा और प्रचण्ड शक्ति को और भी अच्छी तरह समझ सकोगे। जब तुम अपने पैरों पर दृढ़ता के साथ खड़े रह सकोगे और अपने को 'मनुष्य' अनुभव करोगे, तब उपनिषदों और आत्मा की महत्ता को और अच्छी तरह जान सकोगे।'

—स्वामी विवेकानन्द

पाशबद्ध

— अनिल महाजन

जिन्दगी का यह जाल कितना भीषण सिद्ध हुआ है मेरे लिए, कितना लहू बहा है मेरी भावनाओं का, मेरी चाह का! पर, अब सोचता हूँ वह सारा लहू मेरे अतीत के सर्पदंश के कारण काला हो चला था। अगर कच - मेरे मित्र - का साथ समय पर न मिला होता, तो मैं आज भी इस काले लहू को ही लिए जी रहा होता और यूँ कन्दराओं में पड़ा आत्मालोचन से जूझ न रहा होता। एक बारगी सोचता हूँ कि यह जाल-समय का - किसने फेंका था मुझ पर ? शर्मिष्ठा ने ! देवयानी ने !! या स्वयं मैंने ही !!! - पर, क्या इस भाँति सोचने का कोई लाभ भी है... फिर, लगता है- यह अतीत क्रन्दन तो नहीं ही है। हाँ, स्वयं में झाँकने की एक प्रक्रिया अवश्य है। पर, आदमी स्वयं से भी तो डरता है।

...ऐसे ही किसी भय का परिणाम था कि पिताजी - संसार के महाराज नहुष - ने पूरे राजमहल में कहलवा रखा था कि उनके अतीत के सम्बन्ध में मुझे न बताया जाये। अपने अन्य पूर्वजों के पराक्रम के सम्बन्ध में जानने के बाद, जब भी मेरी बाल-जिज्ञासा पिताजी की ओर मुड़ती तो राजमहल शान्त हो जाता। माँ मुझे बातों से बहलाना चाहतीं, दासियाँ खिलौनों में उलझाना चाहतीं और, मेरे प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते।... थोड़ा बड़ा हुआ, मूँछों की रेख फूटने लगी। अपने बल-पराक्रम पर स्वयं ही अभिमान हो आता था। एक दिन, आखेट से लौटा तो पाया कि सारे राजमहल की चहल पहल मौन थी। ...अन्दर गया। पिताजी मृत्यु-शैय्या पर थे। मुझे देखकर कुछ कहना चाह रहे थे। शब्द थे, कि जिह्वा तक आ-आकर लौटे जा रहे थे। उन्होंने मुझे अपने समीप बुलाया और संकेत से सभी को बाहर भेज दिया। सभी के जाते ही-शब्द मानो उद्वेलित हो उठे थे - एक सच कहने के लिए। काँप गया था मैं, जब पिता जी को अगस्त्य ऋषि के श्राप के बारे में उन्होंने स्वयं बताया। शाप था- 'नहुष और उसके पुत्र कभी सुखी नहीं रहेंगे'। स्वेच्छाचारिता को, सताये गये त्याग की आह थी यह।

आज, जब अपने जीवन की साँझ में मैं यह सब विचार कर रहा हूँ-कई बातें चुभ रही हैं। इस चुभन को किसी से बाँट भी तो नहीं सकता। मेरी दो-दो पत्नियाँ मेरे साथ हैं, फिर भी उनसे कुछ बाँट पाने के आग्रह का साहस मुझमें नहीं है। मैं जीवन में कैसा भी रहा होऊँ, पर-शाप के कारण ही शायद - सुखी न रह पाने का एक अज्ञात भय सदैव मन में रहा है। इसलिए, मेरा सदा ही प्रयत्न रहता - माँ को कभी कष्ट न हो, ...देवयानी को कोई असुविधा न हो - किन्तु समय के जाल में फँसा था - छटपटाना तो था ही। देवयानी स्वभावतः हठी थी। उसका दम्भ ही शर्मिष्ठा को राजपुत्री से दासी बनाकर हस्तिनापुर ले आया था। शर्मिष्ठा ने अपनी जाति को शुक्राचार्य के शाप से बचाने के लिए चुपचाप दासीत्व स्वीकार कर लिया। कितना बड़ा त्याग था, उसका ! त्याग - यह शब्द, शर्मिष्ठा से पूर्व भी अपरिचित तो न था मुझ से। अंगिरस ऋषि के आश्रम में कच से मिलने पर उसने भी तो जीवन को त्यागमयी बनाने के लिए कितना लम्बा भाषण दे डाला था। पर तब-वह मुझे मूर्ख लगा था। उस समय मेरी सोच यही कहती थी कि - जीवन तो भोग के लिए है। पर, आज सच्चाई कुछ और ही बनकर आयी है।

राजमहल में, शर्मिष्ठा को दासी - कार्य करता देख मुझे ग्लानि अनुभव होने लगती। धीरे-धीरे मुझे लगा कि मैं उसकी ओर खिंच रहा हूँ। उसकी ओर मेरा आकर्षण - मैं अनुभव कर रहा था - बढ़ने लगा। एक दिन, शर्मिष्ठा का प्रणति निवेदन मैं टाल न सका और हमने, बिना किसी के ज्ञान के, गन्धर्व विवाह कर लिया। देवयानी इस सत्य को नहीं जानती थी।

...मैं समझ नहीं पा रहा था कि कौन सा हठ देवयानी को लीले जा रहा था कि उसने मुझसे बोलना ही छोड़ दिया। पुरुष के दम्भ ने मुझे उसके महल तक जाने से रोक दिया। जीवन के कई वर्ष तक हम दोनों अपरिचित बने रहे। परिणाम? परिणाम तो ऐसा हुआ कि मैं किसी को

अपने अतीत के सम्बन्ध में बताना चाहूँ - कितना भी साहस बटोर लूँ - जुबान लड़खड़ाएगी ही।

देवयानी के द्रोह के कारण, शर्मिष्ठा को मैंने हस्तिनापुर से दूर भेज दिया था। देवयानी के पास मैं जाता न था। मैं अकेला हो गया। तभी, पीछे से ...एक आवाज आयी, मैं ठिठका... दौड़कर किसी ने मेरा हाथ पकड़ लिया। उस कोमल स्पर्श में मुझे कुछ आत्मीयता का अहसास हुआ। उस झूठी आत्मीयता ने मुझे पहले अपने में और फिर डुबो दिया तृष्णा में। इस अनबुझी प्यास को मैंने मदिरा से बुझाना चाहा, कई यौवनों में डूबने पर भी मुझे यही लगता... अभी बस नहीं... अभी, और भी। उन दिनों भी ऋषि का शाप सदा मेरा पीछा करता मिला- 'नहुष और उसके पुत्र...' छिः ! पिता के कर्मों का फल पुत्र भी भोगे। यह सोच-सोच मैं सुरा की और अधिक गहराई में डूब जाता था। कच का भी तो स्मरण नहीं आया कभी। .. पर, क्या उसे मैं याद भी था, तब? सुना था, वह कोई घोर तप कर रहा है।

तप-त्याग - कितने लुभावने शब्द लगते थे। पर, मुझे जीवन का आधार कभी इनमें नहीं मिला। राजा तो भोग के लिए होता है। उसे योग से क्या लेना-देना! पर नियंत्रण नाम की भी कोई चीज हुआ करती है, तब मुझे स्मरण न था। मदिरा, मेरी नियंत्रक बन चुकी थी और भोग मेरा दिग्दर्शक। ... और मैं... इन दोनों के बीच ठोकरें खाता - एक कन्दुक के समान।

छिः! कितना गिर गया था मैं उस दिन, जब अपने ही पुत्र पुरु से उसका यौवन माँगा था। शर्मिष्ठा के इस किशोर पुत्र को मैंने पहली ही बार देखा और कुछ भी देने के बदले उसका यौवन माँग लिया। ...और, उसे भी कोई दुःख न था। तुरन्त, मुझ जैसे पिता के लिए वह सर्वस्व अर्पण के लिए प्रस्तुत हो गया। मैं अन्धा हो गया था।... बस, क्षणों का फेर था, शुक्राचार्य का दिया वर (!) अपना असर दिखा गया। मैं पचास वर्ष का युवा था और मेरे समक्ष मेरा षोडशवर्षीय वृद्ध पुत्र खड़ा था। अपना रूप दर्पण में देख कितना गर्वित हुआ था मैं, पर सत्य का सामना करने की ताकत मुझमें न थी क्योंकि पुरु की अवस्था मैं सहन न कर सका।... अब, मुझे पश्चाताप होने लगा। धन्य हो कच, जो तुम आ गये। अपनी तपस्या का सम्पूर्ण श्रम तुमने मुझ पर उलीच दिया।... और मैं !... अपनी ही दृष्टि में पतित ययाति अपने पुरु को उसका यौवन लौटा सका। मेरा पुरु... फिर प्रसन्न था, उसे कोई क्लेश न था। ... शर्मिष्ठा की कोख से जो जन्मा था।

व्यक्ति कितना भी गिर जाये किन्तु जिस क्षण भी सत्य का सामना करने का साहस उसे हो जाता है - फिर, उसे कोई नहीं रोक सकता।.. सभी का अनुग्रह मैं टाल गया और अपने पुरु को सब कुछ सौंप यहाँ - वन में - चला आया, समय के जाल से स्वयं को मुक्त करने। इसे पलायन न समझिएगा।

□□□

नवयुग-सृजन

— प्रवीण अग्रवाल

हो गया नवयुग-सृजन युग-भारती से
मातृभू की अर्चना करनी समर्पण-आरती से
अब विषमता का पराजित दैत्य होगा
गाँव की गरिमा बढ़ेगी ऐक्य होगा
हम समर्पण के शिखर पर जा चढ़े हैं
त्याग में विश्वास ले पथ पर बढ़े हैं

अब न मेरा गाँव और गरीब होगा
अब न 'पर' के हाथ राष्ट्र-नसीब होगा
अब न 'युग' का स्वार्थ सीमाबद्ध होगा
अब 'छली' के साथ अंतिम युद्ध होगा
आत्म का उत्कर्ष भारत को समर्पित
कर्म का निष्कर्ष तेरे चरण अर्पित

□□□

समाज का गणित

– सर्वेश अस्थाना

बहुत दिनों से मन में यह बात घूम रही थी कि समाज सुधार के कार्य में रत लोगों के लिए मानसिक सम्पन्नता के साथ आर्थिक सम्पन्नता कितनी आवश्यक है।

विचार तो पहले भी बहुत से विषयों पर बहुतायत में आते रहे हैं पर उन्हें प्रकट करने का यह माध्यम मेरे लिए नया ही है। इसके पूर्व मेरा समस्त चिन्तन तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग की उन गोष्ठियों में बहस मात्र के लिए था जो यदा-कदा शायद किसी और आवश्यक कार्य के न होने के कारण आयोजित होती हैं। इन बैठकों में और कुछ हो न हो इतना अवश्य था कि प्रायः मूल समस्या पर आम सहमति हो जाती थी, पर इससे अधिक कुछ नहीं।

इस के कारणों पर यदि गौर किया जाए तो प्रायः यही बात सामने आती है कि हम कर ही क्या सकते हैं। हमारे पास तो और भी जिम्मेदारियाँ हैं। ये और जिम्मेदारियाँ क्या हैं - केवल आम सामाजिक मान्यताओं की कसौटी पर खरे उतरना अर्थात् आर्थिक दृष्टि से अपने को सुदृढ़ करना। कहा भी गया है कि 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' अर्थात भूखा व्यक्ति कुछ भी पाप कर सकता है।

समाज में किसी भी समय तीन प्रकार के वर्ग उपस्थित होते हैं - आर्थिक रूप से सम्पन्न वर्ग, मानसिक रूप से सम्पन्न वर्ग एवं वह वर्ग जो इच्छा करता है कि वह इन दोनों वर्गों में से एक में गिना जाए। इन तीन वर्गों को मैं राजा, सलाहकार एवं प्रजा कहना चाहूँगा। आपसी सामंजस्य के अभाव में पहले वाले दोनों वर्ग भी अपने को तीसरे वर्ग में पाते हैं और सब एक दूसरे की ओर सहायतार्थ निहारते रहते हैं। दुर्भाग्यवश आज हमारे समाज में यह तीसरा वर्ग कुछ ज्यादा ही है। अतः यदि अच्छे समाज की स्थापना करना है तो इस तीसरे वर्ग को साथ लेना होगा और यह तभी सम्भव है जब आर्थिक व मानसिक रूप से सम्पन्न लोग एक-दूसरे से जुड़ें।

आज स्थिति यह है कि जो आर्थिक रूप से सम्पन्न वर्ग है वह दिन-प्रतिदिन स्वार्थ एवं व्यक्तिगत उत्थान में अधिकाधिक लिप्त होता जा रहा है, जिसकी एक वजह शायद यह हो सकती है कि उसकी क्षमताओं, सम्भावनाओं को सही दिशा नहीं मिल पा रही है। इसके विपरीत जो मानसिक रूप से सम्पन्न वर्ग है शायद साधनों के अभाव में अपने आप में ही कटा हुआ है। एक प्रकार से वह भी स्वार्थ में लिप्त है। मुझे लगता है कि आज हमारे समाज का बीजगणित ही गलत हो गया है।

होना यह चाहिए कि $(अ+ब)^२ = अ^२ + ब^२ + २ अ ब$। पर आज $(अ+ब)^२$, $(अ^२ + ब^२)$ ही होकर रह गया है। सुदृढ़ समाज की स्थापना के लिये हमें '२ अ ब' को वापस लाना होगा। अन्यथा 'अ' और 'ब' अपने-अपने वर्ग में चाहे कितने सक्षम हों, उन दोनों के सामंजस्य के अभाव में तीसरा वर्ग उपेक्षित रह जायेगा और एक वैभवशाली संतुलित समाज की स्थापना का स्वप्न स्वप्न ही रह जायेगा।

□□□

'युग-भारती' आवाज है उन युवा धड़कनों की, जिन्होंने सामाजिक विसंगतियों की गर्द को खरोंचकर भारत के स्पंदनों से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

सामाजिक न्याय : आदर्श और वास्तविकता

— कैलाश जोशी

किसी भी समाज में वर्ग की सदैव ही महत्वपूर्ण भूमिका रही है। वर्ग समाज की वह इकाई है जिसका उद्‌भव स्वतः ही हुआ है। विश्व की सभी ज्ञात सभ्यताओं में वर्ग की धारणा के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं। वर्गों का यह विभाजन सामान्यतः धन-समृद्धि, श्रम व ज्ञान पर आधारित था।

किसी भी समाज को प्रधानतः उच्च, मध्यम व निम्न वर्ग में विभाजित किया जा सकता था। उच्च वर्ग में समाज का शक्तिशाली वर्ग - शासक व उसके सहयोगी - मंत्री, अधिकारी, पुजारी इत्यादि आते थे। मध्यम वर्ग में विविध सम्माननीय कार्यों को करने वाले व्यापारी, सैनिक व कृषक इत्यादि आते थे। तीसरे व अन्तिम वर्ग में शेष वह सभी लोग आते थे जो सेवा, सफाई इत्यादि का कार्य करते थे।

यह वर्ग-भेद आरम्भ में केवल कार्य पर ही आधारित था किन्तु धीरे-धीरे यह वर्ग - भेद, जाति-भेद की कलुषित भावनाओं का शिकार हो गया और इसके साथ ही हमारा समाज विविध बुराईयों की चपेट में आकर पतनोन्मुख हो गया।

कोई भी संप्रभुता सम्पन्न व स्वतंत्र राष्ट्र जो अपने को विश्व परिदृश्य में एक शक्ति के रूप में स्थापित करना चाहता है, बिना सामाजिक समरसता के ऐसा नहीं कर सकता। इसी कारण हमारे देश के नीति निर्धारकों ने समाज के प्रत्येक वर्ग विशेषकर शोषित वर्ग के विकास के लिए सामाजिक न्याय का नारा दिया।

किन्तु जिस श्रेष्ठ उपलब्धि के लिए इसकी परिकल्पना की गयी थी वह स्वरूप आज भटक गया है तथा इसे एक नए ही स्वरूप में स्थापित करने का कुत्सित प्रयास चल रहा है जो सामाजिक न्याय न होकर 'वर्गिक न्याय' सा होकर रह गया है।

हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था के लचरपन का फायदा उठा, जाति को राजनीतिक हथकण्डे के रूप में इस्तेमाल करने वाले व्यक्तियों ने अपनी इन कलुषित भावनाओं को सामाजिक न्याय की पवित्र चादर से ढकने का असफल प्रयास किया। यही कारण है कि आज हमें चतुर्दिक कालिमा ही दिखायी पड़ रही है।

सामाजिक न्याय की आड़ में अगड़े-पिछड़ों का संघर्ष खड़ा कर अपनी राजनीति चलाने वाले स्वार्थी तत्वों द्वारा समाजवादी साम्राज्य की स्थापना का दावा तो दिवास्वपन ही कहा जा सकता है।

आज 'आरक्षण' का हर जगह जोर है, इसे 'सामाजिक न्याय' के पर्याय के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है। 'आरक्षण' सामाजिक न्याय दिलाने का एक कारक हो सकता है लेकिन 'सामाजिक न्याय' नहीं।

आज शिक्षा से लेकर नौकरी व नौकरी में प्रोन्नति तक आरक्षण की जो अभूतपूर्व व्यवस्था की गयी है, उसने सम्पूर्ण समाज में हलचल सी मचा दी है। अगर आरक्षण ही दलित, शोषित व पीड़ित समाज की उन्नति का आधार है तो इस युग के श्रेष्ठ समाज सुधारक व महान सामाजिक न्यायवादी बाबा साहब अम्बेडकर आरक्षण के प्रबल समर्थक होते। वे आरक्षण को एक सहारे के रूप में देना चाहते थे न कि उसको ही अपना सहारा बनाने के । इसी कारण उन्होंने संविधान में मात्र दस वर्षों के लिए ही आरक्षण की व्यवस्था की थी।

गुण व मेधा शक्ति न देख केवल विशेष जाति व वर्ग के ही किसी व्यक्ति को किसी पद पर बैठाया तो जा सकता है लेकिन क्या उसे उसके योग्य भी बनाया जा सकता है?

सामाजिक न्याय को उसके सम्पूर्ण अर्थों में लेना ही उचित रहेगा क्योंकि सामाजिक उत्थान तभी हो सकेगा जब सम्पूर्ण समाज शैक्षिक, आर्थिक व राजनीतिक रूप से मजबूत होगा।

इसलिए यह तो आवश्यक है कि समाज के उन सभी क्षेत्रों व वर्गों के लोगों को विकसित होने का मौका मिलना चाहिए जो वास्तव में कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में

पिछड़े हों पर साथ ही पिछड़ेपन की उचित परिभाषा भी होनी चाहिए।

कोई भी वह व्यक्ति जिसके पास उन्नति के कोई साधन नहीं हैं, केवल इसी कारण सामाजिक न्याय से वंचित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह सवर्ण जाति का है। तथा दूसरी ओर उच्चपदस्थ व सक्षम उन व्यक्तियों के लिए आरक्षण क्योंकि वह एक निम्न जाति के हैं, सामाजिक अन्याय ही कहा जा सकता है न्याय नहीं।

'सामाजिक न्याय' का मतलब केवल दो जून रोटी की व्यवस्था करना ही न रह जाये उसके लिए तो सम्पूर्ण क्रान्ति की आवश्यकता है। इस हेतु प्रयासरत व्यक्तियों व संस्थाओं को इस दिशा में बिना किसी पूर्वाग्रह के विवेक से, ईमानदारी से प्रयास करने होंगे। इस संदर्भ में उन्हें भगवान श्री राम के उच्च आदर्शों से प्रेरणा लेनी चाहिए। प्रभु ने गंगाजी को पार करते समय निषादराज केवट की जो सम्पूर्ण सहायता स्वीकार की थी व भीलनी शबरी के जूठे बेर को जिस प्रसन्नता से खाया था वह सामाजिक न्याय का अनूठा उदाहरण है। साथ ही योगिराज श्रीकृष्ण का सुदामा सरीखे गरीब मित्र को अपने से भी उच्च स्थान देना क्या सामाजिक न्याय की परिधि से बाहर है? सामाजिक न्याय की तोता रटन्त ही सब कुछ नहीं है। हमें सम्पूर्ण भारतीय समाज के शैक्षिक व आर्थिक वातावरण को ठीक करने के ठोस प्रयास करने चाहिए। वरना अन्य नारों की तरह यह भी मात्र एक कागजी अभिव्यक्ति ही रह जाएगी या फिर इसकी परिणति वर्ग-संघर्ष के रूप में होगी जो कि इच्छित सामाजिक क्रान्ति से कोसों दूर होगी।

□□□

'जाओ, जाओ, तुम सब लोग वहाँ जाओ, जहाँ प्लेग फैला हो, जहाँ दुर्भिक्ष काले बादल की भाँति छा गया हो, जहाँ लोग दुःख-कष्ट के भार से पीड़ित हों, और जाकर उनका दुःख हलका करो। अधिक से अधिक क्या होगा? - यही न कि इस प्रयत्न में तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी? पर उससे क्या? तुम्हारे समान कितने ही लोग कीड़ों की भाँति प्रति दिन जन्म ले रहे हैं और मरते जा रहे हैं! इससे इस बड़ी दुनिया का भला कौन सा टोटा हो जाता है? तुम्हें मरना तो होगा ही, तो फिर एक महान् आदर्श लेकर क्यों न मरो? जीवन में एक महान् आदर्श लेकर मर जाना कहीं बेहतर है। द्वार-द्वार जाकर इस आदर्श का प्रचार करो, और इससे तुम्हारी अपनी उन्नति तो होगी ही, साथ ही तुम अपने देश का भी कल्याण करोगे। तुम्हीं पर हमारे देश का भविष्य निर्भर है - उसकी भावी आशाएँ केन्द्रित हैं। तुम्हें अकर्मण्य जीवन बिताते देख मुझे मार्मिक पीड़ा होती है। उठो! उठो! काम में लग जाओ - हाँ, काम में लग जाओ! शीघ्र, शीघ्र! इधर-उधर मत देखो - समय मत खोओ, दिन पर दिन काल तुम्हारे अधिकाधिक निकट आता जा रहा है। यह सोचकर निठल्ले बने मत बैठे रहो कि समय आने पर सब कुछ हो जाएगा। ध्यान रखो, ऐसा करने से कुछ भी न हो सकेगा।'

—स्वामी विवेकानन्द

बिना सरदार की सेना, बिना सेना के सरदार

— मनीष कृष्ण

एक सरदार जी ने घड़ी का शो रूम खुलते ही १३६६ रु० की एक घड़ी खरीदी। कोई दो घण्टे बाद समय जानना चाहा तो घड़ी देखते ही उनका पारा सातवें आसमान पर पहुँच गया- 'हैं! १४०० रु० में एक सुई की घड़ी'। आव देखा न ताव धमाके से सरदार जी शो रूम पहुँच गये और सेल्समैन पर अपना कहर बरपा दिया। घड़ी की जाँच-पड़ताल के कुछ तनाव भरे पल गुजरे, सेल्समैन का ठहाका उभरा और सरदार जी चट-पट रफूचक्कर। जोरदार ठहाकों के बीच सेल्समैन ने राज खोला- 'बारह बजे थे। सरदार जी हैं न!'

लिखने को तो मैंने लिख दिया कि 'राज खोला' पर असली दो राज या प्रश्न तो अब उठ खड़े हुये-

-'सरदार' शब्द से क्या मतलब?

- 'बारह बजे' का क्या चक्कर ?'

चलिए, सामान्य बुद्धि और इतिहास की पर्तों से जवाब खोजने की कोशिश करते हैं।

'सरदार' मतलब 'पगड़ी'

हमारे देश में या किसी भी देश में जो सिर पर पगड़ी बाँधते हैं वे अपने समूह, जाति, गाँव या देश के मुखिया अर्थात् सरदार होते हैं।

गुरु नानक देव ने 'सिक्ख' पंथ का प्रचलन किया था। पर ऐसे पंथ तो हमेशा से बनते आये थे और बाद में भी बनते रहे। यह कोई हिन्दू धर्म से अलगाव तो था नहीं। बाद में जबरदस्ती धर्म परिवर्तन के विरोध के कारण जब औरंगजेब ने गुरु तेग बहादुर की निर्मम हत्या करवा दी तो क्रूर मुगल शासन का अंत करने हेतु गुरु गोविन्द सिंह ने अपने पंथ को हिन्दुओं की हमलावर बाँह अथवा एक सैनिक समूह में परिवर्तित करने का संकल्प लिया। इस सैनिक समूह को भी नेतृत्व की आवश्यकता थी। नेतृत्व करने वाले कहलाये 'सरदार' और पहचान के लिये मिली 'पगड़ी'।

ये दोनों ही शब्द तथा प्रतीक भिन्न-भिन्न रूपों में किसी भी लड़ाके समूह में प्रचलित रहे हैं विशेषतः मराठों और राजपूतों में। गुरु के बंदे चूँकि उस समय के हिंदू समाज में सबसे आगे आकर लड़ रहे थे इसलिये धीरे-धीरे 'हिन्दू सेना' ने दिल और जुबान से सम्पूर्ण पंथ को ही 'सरदार' मान लिया। अब पाठक समझ सकते हैं कि क्यों सिख एक अलग सम्प्रदाय नहीं बल्कि हिन्दू धर्म का ही एक विशेष वर्ग है।

'बारह बजे' अर्थात् आक्रमण

दिमाग तो ठीक है जनाब? बारह बजे और आक्रमण का क्या जोड़? जी हाँ! ठीक दिमाग ही इस गठजोड़ को समझ सकता है जिसमें आज की सोची-समझी और अतिशय प्रभावशाली 'कमाण्डो पद्धति' या 'छापामार युद्ध' के सिद्धान्त मिलते हैं। यह सिद्धान्त हैं - दुश्मन को ऐसे समय और ऐसी अवस्था में दबोचो जब उसे इसकी कतई उम्मीद न हो।

दिन के प्रकाश में विशाल, संगठित, शस्त्र सज्जित मुगल सेना का सामना करना सरदारों के लिये कठिन था। अतः रात में जब मुगल सैनिक निद्रामग्न होते अथवा लूट-मार के बाद का जश्न चल रहा होता तो सरदारों की एक चुस्त, चौकस, फुर्तीली टुकड़ी अर्द्धरात्रि अर्थात् 'बारह बजे' के समय हवा के एक झोंके की भाँति मुगलों पर आक्रमण करती और उनको अधिकाधिक नुकसान पहुँचाकर गायब भी हो जाती। यह आक्रमण इतने भीषण और सुनियोजित होते कि सरदार न केवल मुगलों द्वारा लूटी सम्पत्ति हासिल कर लेते बल्कि उनकी रसद में सुअर का माँस मिलाकर मुगल सेना के भूखों मरने की नौबत ला देते थे। मुगल इन 'बारह बजे' के बावलों से सदैव हैरान, परेशान रहते थे।

तो आज की हँसी-ठिठोली के 'बारह बजे' के पीछे छुपा है बीते कल की हमारी गौरवमयी व सुनियोजित युद्ध कला का 'कोड वर्ड'।

दोनों राज खुल चुके हैं पर शेष है यह सवाल कि जिन सरदारों को हर हिन्दू घर से एक बच्चा सरदार बनाने के लिये सौंप दिया जाता था और जिनका अन्य हिन्दुओं से रोटी-बेटी का रिश्ता था क्या वे ऑपरेशन ब्लू स्टार अथवा १९८४ के सिख हत्याकांड जैसी अविवेकी घटनाओं द्वारा अलग कर दिये जायेंगे? क्या सरदार बिना सेना के और सेना बिना सरदार के रहेगी?

नहीं! किसी कीमत पर नहीं! हमें याद रखना है कि सेना के लिये ही सरदार बने हैं और सरदार के लिये ही सेना बनी है।

INDIAN INSTITUTES OF TECHNOLOGY

Non-grata Or High In Demand ?

- Santosh Kumar Mall

Launching pad for US
Cannonade of IAS
Runway for IIMs
Abstract Research...

Here is a cantata often sung in the honour of IIT system of technical education in this country which is yet to take off, economically, considered in the light of low per capita GNP, lowlier Human Development Indices, high unemployment rates and many more factors in the reckoning.

IITs were started on the theme- 'Development of high quality scientific and engineering manpower to cater to the needs of industry, research & development organisations etc.' At that time there was a dearth of high standard engineering institutions in India. Colossal sums of money being required, natuarally there was a huge aid programme from the developed overseas lands. This was expected to help us in achieving the aforementioned objectives as also envisioned by Pt. Nehru.

It is more than a recognized fact that the investors in the above project have reaped richer harvests than they might have expected. The trends of 'Brain Drain' have abated a little these days, but are still good enough to support their economy. For instance, not withstanding the scholarship scenario at IIT Kanpur the major chunk of IIT Madras graduates usualy sees the landing in different US Universities. Though a good portion of the stuff churned out by IITs has been absorbed in various native organisations yet the cream has mostly flown off.

Even the engineering we do here in industries is, to a great extent, working on borrowed concepts. Most of the big organisations rely on Imported Technologies and hence there is sensibly little scope for indigenous Research and Development (R&D). Thus engineering eventually boils down to maintenance of sorts and so offers little for a highly qualified brain from IITs, ultimately culminating in Job Dissatisfaction. It is only recently that a few big industries here have established a separate R&D division. I can say all this from my own little stint as a Summer Trainee in erstwhile ICI (India) Ltd, now known as CCFCL Ltd. Kanpur.

The most lucrative jobs being offered these days are those of a manager and not an engineer. Therefore many of the IIT graduates are flocking towards managment degrees. One can accurately expect very little application of their technical expertise once they acquire a managerial capacity. Here also the recruits are among the best available from the IIT set up.

The hottest topic a few years back was

'Engineers entering IAS and Allied Civil Services'. Though the chapter, for now, is closed with Prof. Satish Chandra Committee report (the committee recommended that engineers, doctors and other such professionals should be allowed to take Civil Services Examinations), the technical training imparted to these candidates at heavy public cost is rarely put to any use in such jobs. Once again the IITs account for the major lot among technical fellows who adorn IAS.

So we can easily conclude that pure engineering receives the potential which can at best be termed as second rate and here the basic purpose of IIT System is defeated.

But there is other side of the coin as well. We can proudly talk about the objectivity, capacity to grasp quickly, finely honed technical skills, scientific acumen and numerous other qualities inculcated and brought forth in this system of education. Students from IITs are generally found to produce greater efficiency with lesser inputs when compared to their counterparts from other engineering colleges. Such qualities count in each and every sphere of life; be it IAS, Industrial Management, Research or any other vocation.

IITs lie among the few universities in our country which are yet to be infected by the corrupt malpractices prevalent elsewhere. And this, in turn, results in a rich academic enviroment alongwith greater efficiencies in non-academic work. Only at a few other places in India can one find such a conglomeration of intellectuals and efficienctly working infrastructure. In addition this results in a 'pull up' effect on other institutions like RECs.

In this era of economic reforms, we should realise the issue in monetary terms also as it is one of the most basic forcing function of all human activities. Cynics may call them White Elephants when it comes to the gigantic budgets of IITs as compared to other colleges (IIT Kanpur had a figure of Rs. 25 crores approx. per annum). Previously this was parcelled from the ministry of Human Resource Development (HRD). But, with the prevalent syndrome of subsidy slashes, a significant lot of these budgets will now have to be generated by IITs' own enterprises - Consultancy Projects, Fees Hikes, Quality Imporvement Programmes, Management Development Programmes etc. (with HRD providing lesser and lesser grants).

Thus there is little rationale to be apprehensive about the costs which are borne out by the National Exchequer (the tax payer's chagrin) and enough to rejoice when we discover that the IITs are now forced to integrate themselves with industry, producing solid results in the process. Also with the kind of facilities available here, it can prove to be a valuable foreign exchange earner, after a little grooming, by taking in students and projects from outside as well, if possible,

The era of liberalisation ought to bring with it greater number of jobs with alluring prospects which will enable an engineering student to stick to his professinal career and thus check the drain of technical talent (in any form).

IITs still are among the best in the world (to enumerate, IIT Kanpur was occupying the 5th rank in Under Graduate Education only recently) and prima facie we can recognise them as the premier most institutes in our motherland. If they are to be blamed for an ethereal approach to the question of technical education in India, the industry and the govt. (to a larger extent) are no less culpable.

After all, 'Brain drain is better than Brain in drain'. While it is the duty of IIT passouts towards their nation that they should indulge in its service, it is for the nation to provide the requisite environment for these products from IITs to flourish and prove their worth; which is certainly the most conducive for its own overall growth as well. Gone is the time when lack of funds etc. could be cited as the obstacles for the development of such an industrial atmosphere. Given the projected amounts of Foreign Direct Investments (FDIs), liberatlisation, globalisation and so forth, this should not be a difficult task for the nation.

Thus in the years to come we may observe IITs showing themselves as the Harbingers of an Industrial Revelution in India (Of course, it's going to be poles asunder from the one in 18th century.)

□□□

Get Out of That Rut

Oscar Wilde said,
"Consistency is
the last refuge of
the unimaginative."
So stop getting up
at 6:05.
Get up at 5:06.
Walk a mile at dawn.
Find a new way
to drive to work.
Switch chores with
your spouse
next Saturday.
Buy a wok.
Study wildflowers.
Stay up alone all night.
Read to the blind.
Start counting
brown-eyed blondes
or blonds.
Subscribe to an
out-of-town paper.
Canoe at midnight.
Don't write to your
congressman,
take a whole scout
troop to see him.
Learn to speak
Italian.
Teach some kid
the thing you do best.
Listen to two hours of
uninterrupted Mozart.
Take up aerobic dancing.
Leap out of that rut.
Savor life.
Remember, we only
pass this way once.

□□□

लोकनायक तुलसी

— आशीष कुमार सिंह

वह क्षुब्ध, कुण्ठित, तृषित भारत
वह बद्ध, प्रताड़ित, विघटित भारत
विरोधी संस्कृतियों में पिसता भारत
विदेशी शासन में पिसता भारत
मुगलों का शासन, बढ़ता अनाचार
पतनोन्मुख हिन्दुत्व, द्वेष का संचार
तुर्कों की वासना से शोषित नार
बाल विवाहित, सती, विधवा लाचार
कहाँ था भारत, कैसा हिन्दुत्व
कैसा कुरीतियों का प्रसार
विक्षिप्त था भारत, मरता हिन्दुत्व
बढ़ती अशांति में फैलता दुराचार
एक तब जन्मा ऐसा लोकनायक
प्रवर्तक, समन्वयक, समाज सुधारक
की रक्षा जिसने हिन्दुत्व की
सत्य-शिव-सुन्दर की अभिव्यक्ति
किया जिसने ज्ञान-कर्म-भक्ति का समन्वय
मिटाये शैव-वैष्णव-शाक्त के विपरीत मन्तव्य
वह था तुलसीदास, राम का गुलाम
वह दर्शन का स्रोत, हिन्दुत्व की पहचान
वह हिन्दी का सूर्य, हिन्दवी का नायक
कविता का ही नहीं, मंत्र का अभिव्यञ्जक
वह समाज का नाथ, था कभी बालक अनाथ
सौभाग्य से मिला, गुरु नरहरि का साथ
वे ही बने पालक, गुरु मंत्र धारक
रामकथा के, तुलसी के संभारक
हुआ जब विवाह रत्नावली से
हुए ग्रसित तुलसी सौन्दर्यासक्ति से
किन्तु जन्मे थे तुलसी तो जनकल्याण हेतु
बनी मायारूपिणी पत्नी ही मायासागर में सेतु
विदुषी पत्नी की भर्त्सना से
हुए मुक्त तुलसी वासना से
उत्पन्न तब हुआ एक उत्कृष्ट वैरागी
राम का अनन्य भक्त, महा समन्वयवादी
चरित मानस राम का तब तुलसी ने लिखा
स्वस्थ सुन्दर समाज का सामने आदर्श रखा
दिखाया सनातन धर्म का अमित शाश्वत स्वरूप
शोषित समाज सम्मुख रखा राम राज्य का रूप
जातिगत कटु भेद को सुनाया शबरी प्रसंग
तानाशाही के युग में समझाया लोकतंत्र
न समझो उसे तुम साहित्यकार मात्र
अथवा राम का भक्त मात्र
वह तो युगद्रष्टा था, लोकनायक भी
धर्मरक्षक, समाजोन्नायक भी
बिरले ही साधक हुये तुलसी सदृश
वाणी जिनकी करती युगों तक तृप्त
तुलसी के काव्य ने किया
स्वयं काव्य को गौरवान्वित
तुलसी बन सूर्य, ज्ञान प्रभा से
करते क्षिति गगन आलोकित
भारत भारती की शीतल प्रभा तुलसी
हिन्द, हिन्दी, हिन्दुत्व के गौरव तुलसी

□□□

नर्मदा की घाटी में अब लड़ाई जारी है

— संदीप पाण्डेय

सरदार सरोवर और नर्मदा परियोजना से शायद ही कोई अपरिचित हो। लोग अपरिचित होंगे तो इस तथ्य से कि इस पूरी परियोजना की भारी कीमत वहाँ के लाखों मूल निवासियों तथा पर्यावरण को चुकानी पड़ रही है और इस तथ्य से कि ये निवासी अपने अधिकारों के प्रति पूरी तरह जागरूक हैं और इस एकतरफा विकास के विरोध हेतु कटिबद्ध। लेखक भी इनके साथ कुछ दिन रहा और उनको जबरन हटाने के विरोध में उनके साथ जेल भी गया। यह लेख जेल में ही लिखा गया था।

सतपुड़ा की पहाड़ियों पर मणिबेली गाँव से जब मैं ऊपर चढ़ता हूँ और पलट कर देखता हूँ तो एक अत्यंत ही सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ता है। इस पार सतपुड़ा व उस पार विंध्य पर्वतों की श्रृंखलाएँ एवं बीच में नर्मदा की घाटी जिसमें नदी का निर्मल जल बहुत ही शांत रूप से विचरण कर रहा है। कभी-कभी हवा के झोंके पानी को गतिमान बनाते हैं। इस अद्‌भुत मनोरम स्थली में प्रकृति की गोद में पलते हैं कुछ आदिवासी एवं तमाम प्रकार के जीव - जंतु एवं वन सम्पदा। प्रकृति के विभिन्न अंगों में जिस प्रकार का समन्वय यहाँ दिखता है वैसा मैंने अभी तक और कहीं नहीं देखा। इस घाटी में मनुष्य अभी भी अपने आप को प्रकृति का सिर्फ एक छोटा सा हिस्सा मानता है - उसने प्रकृति पर नियंत्रण करने का दुस्साहस नहीं किया है। शायद यही वजह है कि नर्मदा घाटी के आदिवासी अभी तक आधुनिकता के प्रकोप से बचे तनावमुक्त सुखी जीवन व्यतीत करते थे। लेकिन आज इनके जीवन को खतरा उत्पन्न हो गया है। और इसका कारण है कॉन्क्रीट की एक भीमकाय दीवार जो मणिबेली से पश्चिम की ओर नर्मदा नदी पर दिखती है। इस दीवार ने नर्मदा के नैसर्गिक प्रवाह में बाधा उत्पन्न कर दी है। नदी को झील बनाने की यह कोशिश नर्मदा घाटी में जीवन की तबाही का कारण बन गई है। पहाड़ी के ऊपर से देखने पर कॉन्क्रीट का यह बाँध आँखों में चुभता है एवं आस-पास के वातावरण में बिल्कुल भी नहीं बैठता। इसके अलावा और जो चीजें वातावरण से बिल्कुल अलग-थलग दिखाई पड़ती हैं वे हैं नर्मदा में विचरण कर रही सरकार की रंगीन मोटरबोटें, पहाड़ियों पर पुलिस के टेंट एवं भारी मात्रा में खाकी वर्दी पहने वे जीव जिन्हें इस जन्म में इंसान होने का सौभाग्य न मिल सका।

अपने आप को जनता का प्रतिनिधि बताने वाले कुछ लोगों ने नर्मदा की समृद्ध एवं सम्पन्न घाटी के विकास की एक योजना बनाई। बाद में जब इस योजना का क्रियान्वयन प्रारम्भ हुआ तो पता लगा कि यह योजना असल में घाटी में रह रहे सुखी लोगों को उजाड़ने की योजना थी, जनता के प्रतिनिधियों और उनको जनता का प्रतिनिधि बनने में मदद करने वाले उनके पूँजीपति व ठेकेदार साथियों की झोली भरने की योजना थी। अपने-आप को आधुनिक विकास का ठेकेदार मानने वाले, पाश्चात्य ज्ञान से प्रभावित हमारे देश के वैज्ञानिकों, अभियंताओं एवं अर्थशास्त्रियों ने इस योजना को स्वीकृति देकर इसको मान्यता प्रदान की। दुर्भाग्यवश विशेषज्ञों का यह वर्ग जिसका पूरा चिंतन तथाकथित वैज्ञानिक सोच पर आधारित है, इस समय जाने-अनजाने में भ्रष्ट व्यवस्था का साथ देने को मजबूर है एवं इसकी हैसियत सिर्फ एक दलाल की रह गई है।

तो जब समाज को चलाने वालों का इस घाटी पर पूरे साजे-बाजे के साथ आक्रमण हुआ तो बेचारे आदिवासियों के लिए एक बड़ी भारी मुसीबत आ गई। पहले पुनर्वास का सुनहरा सपना दिखाकर घाटी खाली कराने की कोशिश की गई। डूब क्षेत्र में आने वाले लोगों को जिस प्रकार का प्रलोभन दिया गया उसे अस्वीकार कर पाना किसी मामूली आदमी के लिए मुश्किल रहा होगा। सम्भवतः अगर विस्थापन के बाद पुनर्वास के सारे वायदे पूरे किए जाते तो बाँध द्वारा उत्पन्न दूसरी समस्याओं - आदिवासी संस्कृति का विनाश, सामुदायिक जीवन का बिखर जाना, जीवन पद्धति में पूर्ण परिवर्तन, पर्यावरण का नुकसान इत्यादि को नकार

भी दिया जाता। लेकिन पुनर्वास का वायदा ही खोखला निकला। पहले तो पूरे प्रकल्प से प्रभावित लोगों के एक छोटे से हिस्से को ही विस्थापितों का दर्जा दिया गया। उदाहरण के लिए बाँध के इंजीनियरों के रहने के लिए १९६० में जो कालोनी बनी थी, उससे विस्थापित छह गाँव अभी तक उचित मुआवजे की राह देख रहे हैं। आदिवासियों द्वारा वर्षों से जो जमीन जोती जा रही थी लेकिन जिसका सरकारी कागजों में नाम नहीं था, उसके डूब में आने पर मुआवजे का कोई प्रावधान नहीं था। नहरों के निर्माण से प्रभावित लोगों को भी विस्थापित नहीं माना जा रहा था। अगर वास्तव में पूरे प्रकल्प द्वारा प्रभावित लोगों, जिनकी संख्या करीब दस लाख तक है, को विस्थापितों का दर्जा दिया जाता तो सरकार के पास इतनी जमीन ही नहीं थी कि सबका उचित पुनर्वास किया जा सकता। इसके बावजूद गुजरात सरकार अपनी पुनर्वास योजना का बढ़ा-चढ़ा कर प्रचार करती रही। इस खोखली नीति का पर्दाफाश तब हुआ जब विश्व बैंक द्वारा नियुक्त एक स्वतंत्र पुनर्विचार दल ने बड़े ही साफ शब्दों में विश्व बैंक को अपना ऋण वापस लेने के लिए मजबूर किया। विश्व बैंक द्वारा नियुक्त इस दल की रपट आने के बाद हमारे देश में भी बाँध की हानियों की तरफ लोगों, खासकर उन वैज्ञानिक सोच वाले लोगों, जिनकी नीति निर्धारण में मुख्य भूमिका रहती है, ने गंभीरता से ध्यान दिया। 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' की नेता मेधा पाटकर के पिछले आठ वर्षों के अथक प्रयास से जो व्यापक जन आंदोलन खड़ा हुआ है उसे आज देश के कोने-कोने से समर्थन मिल रहा है। देश में आधुनिक विकास के नाम पर हो रहे नाटक पर इस आंदोलन ने पहली बार गंभीर प्रश्न चिन्ह लगा दिए हैं। सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा जो सामने आया है वह है कि विकास के नाम पर हमारे देश में जो कुछ भी हुआ है उसमें विकास किसका हुआ है और इसके लिए कीमत किसने चुकाई है।

जब पुनर्वास के खोखलेपन का लोगों को आभास हुआ तो लोग आंदोलन से जुड़ने लगे। जब प्रलोभन काम न आया तो सरकार ने भय के हथियार का सहारा लिया एवं जबरदस्ती जमीन खाली कराने की कोशिश की। इस दमन ने और कुछ भले ही न किया हो, लोगों को संगठन एवं आंदोलन की जरूरत जरूर महसूस करा दी। आंदोलन में जुड़े वे तमाम लोग जो डूब क्षेत्र में आते थे और मेधा पाटकर के साथ कुछ युवा कार्यकर्ता जो शहरों से उच्च शिक्षा प्राप्त किए हुए थे, लेकिन जिनके लिए अपनी अन्यायी व्यवस्था में रह पाना मुश्किल हो रहा था। शोषित गरीब लोगों का दर्द कहीं न कहीं उनके मध्यमवर्गीय जीवन में एक काँटे की तरह खटकता रहता था। जब व्यवस्था का अन्याय एक सीमा पार कर गया तो इन गर्मजोश जिंदादिल युवाओं ने व्यवस्था से सीधे टक्कर लेने का फैसला किया।

आज आंदोलन अपनी चरम सीमा पर है। लोगों की आवाज एवं हौसले बुलंद हैं। समाज के कई बुद्धिजीवी आंदोलन के प्रति सहानुभूति रखते हैं। समाचार पत्रों, पत्रिकाओं में आंदोलन को उचित स्थान मिला है। घाटी के बच्चे आंदोलन द्वारा चलाये जा रहे विद्यालय 'जीवन शाला' में जिस उत्साह से 'नर्मदा की घाटी में अब लड़ाई जारी है' गाते हैं या 'सरदार सरोवर क्या करेगा, सबका सत्यानाश करेगा', के नारे लगाते हैं तो ऐसा लगता है कि अंततः जीत सच्चाई की ही होगी। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि बाँध की ऊँचाई दिन-प्रतिदिन भयावह तरीके से बढ़ती जा रही है एवं मणिबेली जैसे गाँवों की स्थाई डूब अब एक कटु वास्तविकता है।

घाटी के मासूम बच्चों का भविष्य सोच कर कभी-कभी दिल दहल जाता है। उन्मुक्त जीवन व्यतीत करने वाले ये बच्चे जिनका पालन-पोषण प्रकृति अपने हाथों से कर रही थी, शायद कल बड़ौदा, अहमदाबाद या बम्बई की झोपड़ पट्टियों में रहने को मजबूर हों और अपनी रोटी के लिए किसी गैर के मोहताज हों। औद्योगिकीकरण एवं आधुनिकीकरण की वेदी पर कुछ और ग्रामीणों का जीवन बलि चढ़ाया जाएगा। कुछ और लोगों को अपने पेट की भूख मिटाने के लिए आत्मसम्मान बेचना पड़ेगा।

अपने आत्मसम्मान को बचाने की यह लड़ाई जारी है। नर्मदा की घाटी में अब लड़ाई जारी है। इस वर्ष मणिबेली स्थाई रुप से डूब जाएगा। साथ ही मिट जाएगी यहां की संस्कृति, शूलपाणीश्वर का मंदिर, वन संपदा एवं तमाम जीव जो कल तक यहाँ रहते थे। नहीं रहेगी यहाँ की 'जीवन शाला' और उसके बच्चे जो १५ जून को देर रात तक 'डूबेंगे पर हटेंगे नहीं' के नारे लगाते रहे थे।

१५ जून १९९३ की मूसलाधार बरसात में नर्मदा का पानी भयंकर रूप से चढ़ने लगा। रात को बारह बजे से थोड़ा पहले ऊँचाई पर स्थित अपने सुरक्षित कैम्प से निकल कर पुलिस के कई दल नीचे आए। सबसे निचला घर गाँव के सरपंच नारायण भाई का था जिससे पानी अभी एक-दो

मीटर नीचे ही था। पुलिस को देखकर गांव के घर-घर से नारे तेज हो गये - 'डूबेंगे पर हटेंगे नहीं', 'जंगल जमीन किसकी है, हमारी है, हमारी है', 'सरदार सरोवर धोखा है, धक्का मारो, मौका है,' 'खाकी टोपी भाग जा, सरकारी अधिकारी भाग जा', इन नारों की आवाज ने आधी रात को जैसे सारी दुनिया जीवंत बना दी।

लोगों की जान बचाने के बहाने, जबकि वे खुद अपनी जान पर आफत आने से बचना चाहते थे, निर्दयी पुलिस घर-घर में घुसी एवं एक-एक करके लोगों को निकालना शुरू किया। लोगों को निकालने की पूरी प्रक्रिया पुलिस ने अंधेरे में शायद इसलिए की ताकि कोई उनकी घिनौनी हरकत देख न पाए। धीरे-धीरे नारों की आवाजें कम होती गई, एवं डेढ़ घंटे के अंदर उन्होंने एक अच्छे-खासे, बसे-बसाए गाँव को उजाड़ दिया। गाँव की लड़ने की मानसिकता का प्रदर्शन एक सोलह वर्षीय लड़की मंगी ने किया जिसको खींच कर ले जाने के लिए तीन पुलिसकर्मियों की जरूरत पड़ी। आखिर दम तक इस लड़की ने संघर्ष किया एवं भरी रात पुलिस की नींद हराम कर दी।

१६ जून की सुबह भी मूसलाधार बारिश कायम रही। ऐसा लगता था मानो आसमान में कोई छेद हो गया हो एवं उसके ऊपर स्थित एक बड़े सरोवर का सारा जल धरती पर आ रहा हो। बारिश इतनी तेज और गहन थी कि सामने स्थित विंध्य की पहाड़ियाँ ओझल हो गयी थीं। समझ में नहीं आ रहा था कि इन्द्र देवता का प्रकोप मणिबेली के लोगों पर था या बाँध बनाने वालों पर। पुलिस की हिरासत में बैठे हम मणिबेली कैम्प में दुःखी मन से चर्चा कर रहे थे कि शायद अब जल समर्पण का वक्त आ गया है। घाटी के लोगों के भविष्य पर मणिबेली की इस स्थाई डूब ने प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। इस समय बाँध का दानव आदिवासियों पर भारी पड़ रहा है।

अगर कहीं कोई आशा की किरण दिखाई पड़ती है तो वह है लोगों का लड़ने का मनोबल। गिरफ्तार हो कर धुले जेल के लिए ले जाए जा रहे सत्याग्रही पुलिस की मोटरबोट में भी नारे लगाते रहे एवं जेल की कोठरी में भी संघर्ष के गीत गाते रहे। एक भ्रष्ट व्यवस्था के खिलाफ लड़ने के लिए इन लोगों को जेल की कोठरी से पुरस्कृत किया गया है, लेकिन इस पुरस्कार को इन लोगों ने सिर-आँखों लगाया है। यह लड़ाई जारी है। नर्मदा की घाटी में अब लड़ाई जारी है।

□□□

लक्ष्य कर सन्धान अर्जुन

— प्रवीण पाण्डेय

है अभी दिन शेष अर्जुन,
लक्ष्य कर सन्धान अर्जुन।

सूर्य भी डूबा नहीं है,
शत्रु भी तेरा यहीं है,
शौर्य के दीपक जला दे
धनुष की टंकार भी सुन। लक्ष्य कर...

क्या सही और गलत क्या
हो चुकी तेरी प्रतिज्ञा,
अगर निश्चय कर लिया हो
विजय का एक मार्ग भी चुन। लक्ष्य कर...

व्यर्थ का वैराग्य तजकर
मनस में उत्साह भरकर
पार कर लो सिन्धु भ्रम के
व्यथा के मत हार बुन। लक्ष्य कर...

सूर्य मेघों में छिपा था,
काल तेरे हित रुका था,
जीवनी जब तक रहेगी,
रहेगा दिन शेष अर्जुन। लक्ष्य कर...

□□□

सरफरोशी की तमन्ना...

— सुधीर कुमार विद्यार्थी

भारत को स्वतंत्र कराने के क्रांतिकारी प्रयासों में 'काकोरी काण्ड' मील का एक पत्थर कहा जा सकता है। यहाँ प्रस्तुत है वर्णन काकोरी काण्ड से संबद्ध क्रांतिकारियों की अलमस्त दीवानगी का, जब उनका मुकदमा समाप्त हो चुका था और वे फैसले की प्रतीक्षा कर रहे थे।

समय अपनी गति से चल रहा था।

१९२७ के ६ अप्रैल का वह दिन भी नजदीक आ गया, जबकि क्रांतिकारियों के भाग्य का फैसला होने वाला था। यह दिन भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास में विशेष महत्व प्राप्त करने जा रहा था- इतिहास, जिसे शहीदों ने अपने खून से लिख दिया..

५ अप्रैल, १९२७ को जिला जेल लखनऊ के ग्यारह नंबर बैरक में रात्रि-भोजन के बाद एक दिलचस्प बैठक हुई। क्रांतिकारियों ने अपनी एक अदालत बनाई और 'जज' महोदय से उन जुर्मों का हवाला देते हुए फैसला सुनाने को कहा गया।

पहला नाम पंडित रामप्रसाद बिस्मिल का आया। जज ने बताया कि इन्हें इसलिए प्राणदण्ड दिया गया कि वह भारत देश को दयालु ब्रिटिश साम्राज्य से छीनना चाहते हैं। दूसरा नाम शचींद्रनाथ सान्याल का पुकारा गया। सान्याल जी ने आरोप स्वीकार करते हुए इस आधार पर उदार रुख की प्रार्थना की कि उनकी कच्ची गृहस्थी है। जज ने उन्हें काला पानी का दण्ड दिया। इस प्रकार कई लोगों के नामों के उपरांत रोशनसिंह का नाम पुकारा गया। जज ने निर्णय सुनाते हुए कहा- "चूँकि आप बमरौली डकैती में सम्मिलित नहीं थे लेकिन उस स्थान की जानकारी आपने सबको दी थी, इस कारण आपको पाँच साल की सख्त सजा दी जाती है।"

रोशनसिंह चिल्लाए - "ओ जज के बच्चे, फैसला सुनाने की तमीज भी है! मैं तो कोदों बेचकर आया हूँ न, जो मुझे पाँच साल की सजा सुना रहा है। पंडित (राम प्रसाद बिस्मिल) को फाँसी और मुझे सजा! बेवकूफ!"

सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे, तो रोशनसिंह को थोड़ा और छेड़ने के अभिप्राय से किसी ने पीछे से कहा- "जज साहब से निवेदन है कि अदालत की मानहानि के आरोप में ठाकुर रोशन सिंह को पंद्रह दिनों की सजा और दी जाए।"

लोग हँस पड़े। रोशनसिंह गुस्से में उठे और अपने बिस्तर पर जाकर लेट गए। अदालत का नाटक खत्म कर दिया गया, तो हँसी से सभी क्रांतिकारी लोट-पोट हो गए। सभी रोशनसिंह से माफी माँगने लगे। वे उम्र में सबसे बड़े जो थे।

उस दिन आजादी के उन दीवानों की मस्ती जो भी देखता, वही दाँतों तले उँगली दबाता - आदमी होकर मौत से नहीं डरते, किस मिट्टी के बने हैं ये लोग!

६ अप्रैल को क्रांतिकारी बहुत सबेरे जग गए थे। उस दिन दस बजे ही उन्हें अदालत पहुँचना था। वे रोज की तरह कसरत और स्नान कर रहे थे और खूब खिलकर हँस रहे थे। जो कोई उन्हें देखता, वही उनकी जिंदादिली की प्रशंसा करता।

खाना तैयार हो चुका था और सबने रोज की तरह ही खाना खाया। एकाएक बिस्मिल के मस्तिष्क में यह विचार आया कि आज सब एक साथ खाना खाएँ। जेलर रायबहादुर चंपालाल के यहाँ से एक बहुत बड़ी थाली मँगाई गई और उसके चारों ओर सभी क्रांतिकारी बैठ गए। कुछ खड़े भी रहे। सभी ने अनुष्ठानिक तरीके से थाली में से एक-एक दो-दो कौर खाए और हँसते हुए उठ खड़े हुए। क्रांति-पथ के उन मुसाफिरों के बीच यह सामूहिक भोज था, जिनका रास्ता अब पृथक् होनेवाला था। वे, जो कभी एक

उद्देश्य और लक्ष्य की ओर सिर पर कफन बाँधकर आगे बढ़े थे। आज उन्हीं में कुछ से जीने का अधिकार छीनने का निर्णय हो सकता था और कितनों को साम्राज्यवाद की जेलों की अँधेरी बदबूदार कोठरियों में ढकेला जा सकता था।

...और इसीलिए आज उन्होंने साफ और अच्छे कपड़े पहने थे। ऐसे अवसरों पर सुंदर लिबास धारण करने की उनकी पुरानी परम्परा जो थी। हल्दीघाटी के राजपूत इसी प्रकार मरने के लिए अपनी सबसे अंच्छी पोशाकें पहनकर गए थे और राजपूत रमणियाँ तो जौहर-व्रत करने से पहले सोलह श्रृंगार किया करती थीं।

ठाकुर रोशन सिंह ने आगे बढ़कर इत्र की एक शीशी निकाली और सभी के वस्त्रों पर थोड़ा-थोड़ा लगाया। वे स्वयं आज बहुत बढ़िया वस्त्र पहने हुए थे।

इसके बाद बेड़ियाँ पहनाई जाने लगीं। एकाएक उसी समय राजकुमार सिन्हा दौड़ते हुए आए और उन्होंने मन्मथनाथ गुप्त को आलिंगन में ले लिया। पूछने पर पता लगा कि हेमिल्टन या किसी अन्य अधिकारी के निर्देश पर फाँसी की तीन कोठरियाँ साफ की जा रही हैं। राजकुमार को अनुमान था कि फाँसी पानेवाला तीसरा व्यक्ति मन्मथ जी के अलावा और कौन हो सकता है। पर यह खबर अनुमान ही थी। कोई जज या अन्य अधिकारी जेल वालों को इस तरह की खबर पहले से क्यों दे देता।

क्रांतिकारी रोज की भाँति पहरे के बीच अदालत रवाना हुए। लारी के चलते ही क्रांतिकारी गीतों का वही समाँ बँध गया, पर आज मन की हिलोरों ने गानों में अजीब-सी लय भर दी थी। काजी नज़रुल इस्लाम का वह गाना भी गाया गया, जिसकी पंक्तियाँ इस प्रकार थीं - "शाकल परा छल मोदेर ऐ शाकल परा छल।" अर्थात् हमारा बेड़ियाँ पहनना छल मात्र है, यह बेड़ियाँ छल मात्र हैं। आगे भीड़ देखी तो 'वंदे मातरम्' और 'भारतीय प्रजातंत्र की जय' के नारों का गगनभेदी उद्घोष किया गया। आज ये नारे वातावरण में विचित्र ध्वनि और उमंग पैदा कर रहे थे। जिन कानों ने भी उस ध्वनि को सुना, वे धन्य हो गए।

क्रांतिकारियों की दृष्टि रास्ते में एक ऐसी गाड़ी पर पड़ी जिसमें सामान लदा हुआ था। बिस्तरों और बक्सों पर लगे लेबिल को पढ़कर आश्चर्य का ठिकाना न रहा। लेबिलों पर जज साहब का नाम लिखा हुआ था। स्पष्ट था कि वे फैसला सुनाने के बाद कहीं दूर जा रहे हैं। कितना आतंक था ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर इन मुट्ठी भर क्रांतिकारियों का, जो उम्र और शक्ति में भी बहुत ज्यादा न थे और जिन्हें फाँसी और लम्बी सजाएं देकर वे चैन की नींद सोने की कल्पना भी कर रहे थे। एक शक्तिशाली साम्राज्य की कमजोरी का इससे बढ़कर नमूना और क्या हो सकता है।

गाड़ी सिनेमा हॉल के हाते में पहुँच गई थी, जहाँ मुकदमा चलता था। जहाँ से ये युवक क्रांतिकारी चले थे और अब तक का पूरा सफर आज उनकी आँखों के सामने सिनेमा की रील की भाँति घूम रहा था। पुलिस का आज विशेष प्रबंध था। अनेक योरोपियन सारजेंट पूरी सतर्कता से चहलकदमी कर रहे थे। अदालत के बाहर आज बहुत भीड़ थी। क्रांतिकारी जैसे ही लारी से उतरे, जनता में हलचल मच गई। आज वह आँखें भरकर इन क्रांतिवीरों को देख जो लेना चाहती थी। क्रांतिकारी भी रोज की भाँति अदालत के कमरे की ओर न बढ़कर आज झूम-झूमकर गाने लगे-

'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है,
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है।'

बिस्मिल की इन पंक्तियों को गाते हुए क्रांतिकारी अदालत के भीतर तक गए। वहाँ भारी भीड़ थी। लोग काकोरी के ऐतिहासिक मुकदमे का फैसला सुनने के लिए आए हुए थे। सरकारी और सफाई पक्ष के वकील मौजूद थे। कुछ वकीलों ने आज अदालत में आने की विशेष अनुमति ले ली थी। मुखबिरों की बेंच पर बनारसीलाल और इंद्रभूषण बैठे थे। क्रांतिकारियों के परिवार के लोग और रिश्तेदार भी आज के दिन यहाँ उपस्थित थे।

जज के आते ही अदालत में सन्नाटा चक्कर काट गया। सभी की निगाहें उनके चेहरे की ओर जा पहुँची। उन्होंने बहुत कम शब्दों में षड़यंत्र के विषय में बताया कि वह प्रमाणित हो चुका है। पूरा फैसला ११५ छपे हुए पृष्ठों में था। संक्षेप में पढ़ने के बाद वे सीधे सजा पर आ गए। अंग्रेजी वर्णमाला के अनुसार सबसे पहले भूपेंद्रनाथ सान्याल को पाँच साल की सजा सुनाई गई। बाद में जिन लोगों को सजा सुनाई गई, उनमें रामप्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी और ठाकुर रोशन सिंह को फाँसी, शचींद्रनाथ

सान्याल को आजन्म काला पानी, मन्मथनाथ गुप्त को चौदह साल, योगेश चंद्र चटर्जी, गोविंदचरण कार, मुकुंदीलाल, रामकृष्ण खत्री तथा राजकुमार सिन्हा को दस-दस वर्ष, सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य तथा विष्णुशरण दुबलिश को सात-सात वर्ष, रामदुलारे त्रिवेदी, प्रेमकिशन खन्ना तथा रामनाथ पाण्डेय को पाँच-पाँच वर्ष, की सजा दी गई। प्रणवेश को चार साल की सजा हुई और इकबाली गवाह बनने के बावजूद बनवारीलाल को पाँच वर्ष की कैद की सजा सुना दी गई।

बिस्मिल ने फाँसी का आदेश बहुत धैर्य से सुना, मानो वे इसके लिए पहले से तैयार बैठे थे। रोशनसिंह के लिए यह सजा अप्रत्याशित थी। उनकी फाँसी की सजा सुनकर तो जैसे सभी को काठ मार गया। जब सजा सुनाई गई तो सब आश्चर्य से एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। रोशनसिंह कुछ चौंके, क्योंकि उन्हें अंग्रेजी नहीं के बराबर आती थी। उन्होंने बगल में खड़े विष्णुशरण दुबलिश से पूछा- "दुबलिश, फाइव इयर्स, फाइव इयर्स के अलावा जज ने कुछ और भी तो कहा है? वह क्या था?"

दुबलिश जी ने उनकी कमर में हाथ डालते हुए कहा- "पंडित जी और लाहिड़ी के साथ आपको भी फाँसी की सजा मिली है।"

रोशनसिंह एकदम उछल पड़े और पीछे मुड़कर देखते हुए बोले- "ओ जज के बच्चे, देखा तुमने। फाँसी की सजा मुझे भी मिली है!"

अपने फैसले को रोशनसिंह ने बहुत बहादुरी के साथ सुना और तीन-चार बार 'ॐ' शब्द का उच्चारण किया। उसके बाद साथियों से बोले- "हमने तो जीवन का आनंद खूब उठा लिया। यदि मुझे फाँसी हो जाए तो कोई गम नहीं है। किन्तु तुम लोगों ने तो जीवन का अभी कुछ भी नहीं देखा।" मृत्यु - दण्ड की सजा सुनकर राजेन्द्रनाथ ने मन्मथनाथ से बंगला में कहा- "दुनियाटा जैनो बदले गैलो", अर्थात् दुनिया जैसे बदल गई। फिर अगले ही क्षण सँभलकर वे अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ गए। बोले- "इसे हम पहले से जानते थे। फिर हमें किसी प्रकार का परिताप कैसा। यह मेरा पुनर्जन्म है। मेरी तो थोड़ी देर की तकलीफ है। महीने-दो महीने में खत्म हो जाएगी। किन्तु मुझे तो उन लोगों के विषय में चिंता हो रही है जिन्हें चौदह-चौदह वर्ष और बीस-बीस वर्ष तक जेलों में सड़ना है।"

फैसला सुन चुकने के बाद क्रांतिकारियों ने अपने उन साथियों को घेर लिया, जिन्हें फाँसी की सजा का आदेश दिया गया था। बिस्मिल के चेहरे पर अभी भी दृढ़ता और बेफिक्री के निशान उसी तरह थे और राजेन्द्र बाबू के होठों पर बालसुलभ हँसी खेल रही थी। ठाकुर रोशन सिंह तो इस तरह खड़े थे, मानो लोगों को पीछे छोड़कर स्वर्ग की यात्रा पर जा रहे हों। वे एकाएक रामप्रसाद से बोले- "क्यों पंडित, अकेले ही जाना चाहते थे लेकिन यह ठाकुर पीछा छोड़ने वाला नहीं है। वह हर जगह तुम्हारे साथ रहेगा।" बिस्मिल ने उन्हें सीने से लगा लिया। उनकी आँखें डबडबा आईं- "ईश्वर सबको आप जैसा बड़ा भाई दे। आप कुर्बानी में हम सबसे आगे निकल गए।"

उस क्षण बिस्मिल भी रोशनसिंह की यह दिलेरी देखकर भीतर तक हिल गए थे। किसने जाना था कि रोशनसिंह को फाँसी की सजा मिलेगी, पर वे तो जैसे जीवन का सर्वोच्च पुरस्कार पाकर सबसे अधिक खुश नजर आ रहे थे।

सभी छोटे साथियों ने आगे बढ़कर बिस्मिल, राजेन्द्र बाबू और रोशनसिंह के चरण स्पर्श किए। वे एक-दूसरे से जी भरकर गले मिले। फाँसी की सजा पानेवाले क्रांतिकारी आज से ही अलग होनेवाले थे, यह सोचकर सभी उदास हो गए। आज उन्हें हमेशा के लिए बिछुड़ना था। क्या अपने साथियों को मौत के मुँह में जाते देखने के लिए ही वे एक साथ इस रास्ते पर चले थे? इस असहनीय वियोग के बोझ को सीने पर पत्थर रखने की भाँति सहते हुए वे अदालत से निकले तो 'वंदे मातरम्' का गगनभेदी नाद किया। आगे थे दल के नेता पंडित रामप्रसाद बिस्मिल। उन्होने चलते हुए गाया-

'हैफ़ जिस पे हम तैयार थे मर जाने को,
दूर तक यादे-वतन आई थी समझाने को।
दरो-दीवार पर हसरत से नज़र रखते हैं,
खुश रहो अहले-वतन हम तो सफ़र करते हैं।'

(उस समय तक अशफाक उल्ला खाँ पकड़े नहीं गये थे। बाद में पूरक मुकदमे में अशफ़ाक उल्ला खाँ को फाँसी और शचींद्रनाथ बख्शी को काला पानी की सजा हुई।)

□□□

क्रान्ति की भूमिका

क्रान्तिकारी शब्द सुनते ही कानों में बम की आवाज गूँज जाती है तथा हाथ में पिस्तौल लिये हुये अथवा फाँसी का फंदा अपने गले में डालते हुए लोगों की छवि कल्पना में उभर आती है। परन्तु क्या यही उनका सम्पूर्ण परिचय है? देश की स्वतंत्रता के हित अपने प्राणोत्सर्ग करने वाले क्रांतिकारियों की प्रेरक शक्ति में कुछ लोग बचकाना जोश ढूँढते हैं तो कुछ हिंसक प्रवृत्ति। पर क्या मानसिक और वैचारिक तैयारी के बिना ऐसा चरम बलिदान सम्भव है ? कम ही लोगों को मालूम होगा कि भगत सिंह और उनके साथियों ने अपनी अल्पायु के अनेक वर्ष गहन अध्ययन और लेखन में बिताये। यहाँ प्रस्तुत कुछ लेखों में ज्वलन्त सामाजिक प्रश्नों के प्रति उनकी गहरी समझ साफ नजर आती है। यही कारण है कि उनके विचार आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। भाषा यहाँ अनगढ़, अपरिष्कृत और आंचलिक असर लिये हुए हो सकती है पर भावनाओं का ज्वार और कथ्य की तार्किकता ऐसी है कि आप अछूते नहीं रह सकते। शर्त यही है कि आप पूरे ध्यान से पढ़ें।

काकोरी के शहीदों के लिए प्रेम के आँसू

काकोरी केस के चार वीरों को फाँसी पर लटका दिया गया। वे लाड़-प्यार से पले शूरवीर हँसते-हँसते शहादत प्राप्त कर गये। भारत माता के चार सुपुत्र अपने शीश देश और राष्ट्र के नाम अर्पण कर गये। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा, अपना फर्ज पूरा कर दिया। वे इस पंच भौतिक शरीर की कैद से आजाद हो गये और हम गुलामों को अपनी गुलामी के दुखड़े रोने के लिए पीछे छोड़ गये!!!

जिस देश में देशभक्ति गुनाह समझा जाता हो, जिस देश में आजादी की ख्वाहिश रखना बगावत समझा जाता हो, जहाँ लोककल्याण की सजा मौत हो, जहाँ देशभक्तों की गर्दन में फाँसी का रस्सा डाला जाता हो, उस देश की हालत ख्याल में तो भले ही आ जाये, लेकिन बयान नहीं की जा सकती। किसी देश की अधोगति इससे ज्यादा क्या हो सकती है। जिस देश में ऐसे अन्याय और अत्याचार दिन-प्रतिदिन होते रहें और वहाँ के निवासी इनके खिलाफ आवाज उठानी तो दूर, आह तक न भर सकते हों, उसकी हालत क्या होगी?

हिन्दुस्तान गुलाम है। इसकी बागडोर विदेशियों के हाथ है। इससे प्रेम करना मौत को पुकारना है। इसकी आजादी के सपने देखना घर-बार, बाल-बच्चे छोड़कर जलावतनी की जिन्दगी गुजारना है। इस महिवाल के प्रेम ने कई सोहनियों को गहरे समुद्रों में डुबोया। इसके प्रेम ने कई प्रेमियों के दल-के-दल खत्म किये। इसका प्रेम अगाध है, अथाह है। इसके प्रेमी बेअन्त हैं, असंख्य हैं। न इस प्रेम का स्वर पता चलता है, न इसके प्रेमियों को ताव आती है। यहाँ तो 'चुप भाई चुप' वाली बात है।

यह जुल्म कब तक रहेगा? इस अन्याय का भाँडा कब फूटेगा? बेगुनाहों को कब तक शहीद किया जायेगा? देश-प्रेमियों को कब तक गोली का निशाना बनाया जायेगा? कब तक इस गुलामी डायन का और मुँह देखना पड़ेगा? आजादी देवी के दर्शन कब तक होंगे? अभी कितनी शहीदियाँ प्राप्त करनी होंगी? अभी और कितनों को फाँसी पर चढ़ाया जायेगा?

रब्बा ! वह दिन कब आयेगा, जब यह शहीदियाँ रंग लायेंगी। ईश्वर, वह दिन कब देखेंगे जब हमारा बगीचा हरा-भरा होगा? यहाँ से पतझड़ का कूच कब होगा? उल्लू कब तक इस बाग में डेरा जमाये बैठे रहेंगे? बुलबुलें किस दिन फिर यहाँ चहचहायेंगी? यह पिंजरे कब टूटेंगे? आजादी कब लौटेगी, उजड़े कब फिर बसेंगे?

लोगो ! भारत माता के चार सुन्दर जवान फाँसी चढ़ा

दिये गये। वे नौकरशाही के डसे, दुश्मनी का शिकार हो गये। कौन बता सकता है कि यदि वे जीवित रहते तो क्या-क्या नेकी के काम करते, कौन-कौन से परोपकार करते? कौन कह सकता है कि उनके रहने से संसार पहले से सुन्दर और रहने योग्य न दिखायी देता? वे वीर थे, आजादी के आशिक थे। उन्होंने देश और कौम की खातिर अपनी जान लुटा दी। वे अपनी माँओं की कोख को सफल बना गये।

यदि भारत माता आजाद होती तो इनके बलिदानों का मोल पड़ता। यदि आज हिन्दुस्तान में कुछ जान होती तो यह बलिदान बेकार न होते। हाय! आजादी के वीर चले गये। उन्हें किसी ने न पहचाना, उन्हें किसी ने न कहा, आप शूरवीर हो, आप बहादुर हो। वह जगह धन्य है, जहाँ आप जन्मे-पले! जहाँ आप खेले। वे राहें धन्य हैं, जहाँ आप चले, जहाँ आप कूदे-भागे। वीर मातृभूमि के लाडले वीर चले गये! वे अपना जन्म सफल कर गये!

बातें करनी आसान हैं, बड़कें मारनी आसान हैं। चुगल-चुगल करना और बात है, कुर्बानी देना और बात है। परीक्षा अलूणी चट्टान है, इसे चाटना आसान नहीं है। परीक्षा से बड़े-बड़े तौबा कर उठे थे। परीक्षा के आगे कोई जिगरवाला ही टिक सकता है। इन वीरों ने किस हिम्मत, किस बहादुरी से परीक्षा दी है। इनकी बहादुरी कभी भूल सकती है? धन्य हैं इनके माँ-बाप, जिन्होंने उन्हें जन्म दिया। धन्य हैं ये स्वयं, जो बलिदान के पुंज, आत्म-त्याग की मिसाल हैं।

जब कभी आजादी का इतिहास लिखा जायेगा, जब कभी शहीदों का जिक्र होगा, जब कभी भारत माता के लिए बलिदान करनेवालों की चर्चा होगी तो उन्हीं राजेन्द्र लाहिड़ी, रामप्रसाद बिस्मिल, रोशन सिंह, अशफ़ाक उल्ला का नाम जरूर लिया जायेगा। उस समय आने वाली पीढ़ियाँ इन शहीदों के आगे शीश झुकायेंगी और इन वीरों के बहादुरी भरे किस्से सुन-सुन सिर हिलायेंगी। उस समय ये कौम का आदर्श माने जायेंगे, इन बुजुर्गों की पूजा होगी।

आज हम कमजोर हैं, निःशक्त हैं। आज हम गिरे हुए हैं, झूठे हैं। आज हम अपनी दिली भावनाएँ नहीं बता सकते - क्योंकि हम कायर हैं, डरपोक हैं आज हमें सच कहने से डर लगता है, क्योंकि कानून की तलवार हमारे सिरों पर लटकती दिखायी देती है। इससे यह नहीं कह सकते, 'काकोरी के शहीदो ! आपने जो किया, भारत माता के बन्धन तोड़ने के लिए किया। आपने जो कष्ट उठाये, वह हिन्दुस्तान को आजाद करवाने के लिए उठाये।' आज हम यह नहीं कह सकते कि आपने अपने मतानुसार अच्छा किया।

गुलामों की अवस्था कितनी गिर जाती है। गुलामों में कितनी गिरावट आ जाती है। दैवी गुण उनमें से किस तरह भाग जाते हैं। वे कितने ढोंगी और पाखण्डी बन जाते हैं। वे कितने बुजदिल व कायर बन जाते हैं। वे सच्ची-खरी बातें मुँह पर नहीं कह सकते। वे दिल में कुछ और रखते हैं और बाहर कुछ और। उनकी हालत कितनी दयनीय हो जाती है।

इस हालत को सुधारने का एक ही साधन है। इस दुर्दशा को बदलने का एक मात्र इलाज है। इस दुर्दशा की एक ही दवा है, और वह है आजादी। आजादी कुर्बानियों के बगैर नहीं मिल सकती। शहीदों की इज्जत करने से, शहीदों के कारनामे याद करने से कुर्बानी का चाव उमड़ता है। जो कौम शहीदों को शहीद नहीं कह सकती, उसे क्या खाक आजाद होना है?

लोगो! देखे हैं आशिक सूली पर चढ़ते? वे मौत से मजाक करते थे। वे मौत पर हँसते थे। उन्हें मृत्यु का भय नहीं था। वे यार की गली में शीश तली पर रखकर आये थे। उन्हें डर क्या था, वे तो आये ही मरने थे। मृत्यु का तो वे पहले ही वरण कर चुके थे। जीवन की आशा तो वे पहले ही छोड़ चुके थे। वे तो गाते थे-

'एक मिट जाने की हसरत अब दिले-बिस्मिल में है'

कहाँ वे और कहाँ हम ? वे तो किसी और ही देश के निवासी थे। वे तो गरीबों की आह सुनकर मैदान में उतरे थे। वे तो हिन्दुस्तान से भूख-नंग को दूर करने आये थे। वे तो मजदूरों और किसानों का हाल पूछने आये थे। वे तो किसी ऊँचे आदर्श के पुजारी थे। वे तो किसी ऊँचे स्वप्न की उड़ान में मस्त थे। वे तो वे नजारे देखते थे, जहाँ न भूख है न नग्नता। जहाँ न गरीबी है, न अमीरी। जहाँ न जुल्म है, न अन्याय। बस जहाँ प्रेम है, एकता है, जहाँ इन्साफ है, आजादी है, जहाँ सुन्दरता है। पर हम? हम? ... हाय रे !

किसी का आदर्श कमाना, आप खाना और बच्चों को

पालना होता है। किसी का आदर्श स्वयं को ऊँचा उठाने का होता है। किसी का आदर्श गरीबों, दुखियों को लूटकर धन-दौलत इकट्ठी करना होता है। किसी का आदर्श अपने सुन्दर शरीर को तकलीफ से दूर रखने का होता है।

लेकिन उनका आदर्श देश था। उनका आदर्श हिन्दुस्तान की आजादी था। उनका कोई स्वार्थ नहीं था। उनके खाने के लिए, उन्हें ओढ़ने के लिए किसी बात की कमी न थी। वे तो जो कुछ करते थे, लोक-कल्याण की खातिर, लोक-सेवा के लिए करते थे। वे इतने बलिदान के पुंज निकले, कि स्वयं को हमारे ऊपर वार दिया। आइए, इन वीरों को प्रणाम करें।

मातृभूमि के लाडलो! क्या हुआ यदि डर के मारे आज हम आपका नाम भी लिखने से घबराते हैं? क्या हुआ जो आज हम दिल की बातें कहने में झिझकते हैं? क्या हुआ यदि आज हिन्दुस्तान में मुर्दानोशी छायी है और आपका नाम लेने से ही हम सरकार की निगाह में षड़यंत्रकारी बन जाते हैं? क्या हुआ यदि कोई हिन्दुस्तानी आपको भला-बुरा भी कहे, लेकिन समय आयेगा जब आपकी कद्र होगी, जब आपको शहीद कहा जायेगा, जिस तरह १८५७ के गदर को अब 'आजादी की जंग' कहा जाता है। समय सिद्ध कर देता है, समय सच्ची-सच्ची कहलवा देता है, समय किसी का लिहाज नहीं करता। उस समय आप अपनी असली शान से चमकेंगे और उस समय हिन्दुस्तान आप पर बलिहारी जायेगा।

शहीद वीरो ! हम कृतघ्न हैं, हम तुम्हारे किये को नहीं जानते। हम कायर हैं, हम सच-सच नहीं कह सकते। हमें आप माफ करो, हमें आप क्षमादान दो। हमें मौत से भय लगता है, हमारा दिमाग सूली का नाम सुनते ही चक्कर खा जाता है। आप धन्य थे। आपके बड़े जिगर थे कि आपने फाँसी को टिच्च समझा। आपने मौत के समय मजाक किये! पर हम? हमें चमड़ी प्यारी है, हमें तो जरा-सी तकलीफ ही मौत बनकर दिखने लगती है। आजादी ! आजादी का तो नाम सुनते ही हमें कँपकँपी छिड़ जाती है। हाँ! गुलामी के साथ हमें प्यार है, गुलामी की ठोकरों से हमें मजा आता है! आपकी नस-नस से, रग-रग से आजादी की पुकार गूँजती थी लेकिन हमारी रग-रग से, हमारी नस-नस से, गुलामी की आवाज निकलती है। आपका और हमारा क्या मेल? हमें आप क्षमा करो, आप हमारे केवल यह प्रेम के अश्रु ही स्वीकार करो।

कहो, धन्य हैं, काकोरी के शहीद...!

आतंक के असली अर्थ

पिछले सात-आठ सालों में जिन कुछ शब्दों ने हमारे राजनीतिक जीवन में तूफान खड़ा किया है और जिनके बारे में बहुत लोगों को गलतफहमी रही है उनमें सबसे जरूरी शब्द 'आतंक' है। अब तक किसी ने भी गहन विचार कर इस शब्द के अर्थ समझने के यत्न नहीं किये। इसीलिए आज तक इस शब्द का गलत इस्तेमाल होता रहा है। पूरी कौम अपने लक्ष्य को ठीक न समझ पाने के कारण दिन को रात और रात को दिन समझती हुई ठोकरें खा रही है।

आतंक पर बोलते ही अनुभव होने लगता है कि वह त्याज्य और बुरा शब्द है। सुनते ही यह विचार पैदा होता है कि वह दुख देने वाला, अत्याचारी, जोर-जबरदस्ती वाला और अन्यायपूर्ण है। जिस काम के साथ 'आतंक' शब्द लग गये वही काम पतित, हानिकर और त्याज्य लगने लगता है। इस हालत में कोई शरीफ और नेकदिल इन्सान इससे हमेशा के लिए परे रहने का यत्न करे तो यह एक स्वाभाविक बात है। आतंक और जुल्म से आशय ताकत का अनुचित ढंग से प्रयोग है। इन दोनों शब्दों से ताकत के इस्तेमाल की बू तो आती है, लेकिन ताकत के इस्तेमाल की एक सीमा है। उसी सीमा का ख्याल न रखते हुए कुछ हंगामाबाज लोगों ने 'आतंक' नाम दे दिया है और हिन्दी भाषा में इसकी तुलना में 'अहिंसा' शब्द ठोंक दिया गया है। इसी कारण आज एक बड़ी खतरनाक गलतफहमी फैली हुई है।

आतंक में ताकत का इस्तेमाल भी होता है। इसलिए कुछ घटिया दिमाग वालों ने ताकत के इस्तेमाल को ही आतंक का नाम दे डाला। किसी आदमी को बुरे काम से रोकने के लिए यही कह देना काफी होता है कि वह काम बहुत बुरा और घृणित है। ऐसे ही शब्दों में आतंक भी एक है। कांग्रेस के आदेशानुसार हजारों इंसान बिना किसी न-नकार के शान्ति की कसमें उठाते चले गये। बात तो ठीक थी। आतंक का अर्थ जुल्म और जबरदस्ती करना है। ऐसा बुरा काम न करने की कसम खाने में किसी को क्या उज्र हो सकता है, लेकिन असली बात यह है कि जुल्म को

नहीं, बल्कि ताकत के इस्तेमाल को ही आतंक का नाम देकर लोगों में गलतफहमी फैला दी गयी है। बहुत से लोग जो कि ताकत के इस्तेमाल के हक में थे, वे आतंक का पक्ष लेने की हिम्मत न दिखा सके और उन्होंने भी चुपचाप शान्तिपूर्ण (आंदोलन) के पक्ष में होने की कसम उठा ली। इसीलिए अहिंसा (Non-violence) जैसे शब्दों ने बहुत गड़बड़ी मचा दी। हजारों ही काम जो आज तक न सिर्फ जायज, बल्कि अच्छे माने जाते थे, वह पलक झपकने में ही घृणित माने जाने लगे। वीरता, हिम्मत, शहादत, बलिदान, सैनिक-कर्त्तव्य, शस्त्र चलाने की योग्यता, दिलेरी और अत्याचारियों का सर कुचलने वाली बहादुरी आदि गुण बल-प्रयोग पर निर्भर थे। अब ये गुण अयोग्यता और नीचता समझे जाने लगे। आतंक शब्द के इन भ्रामक अर्थों ने कौम की समझ पर पानी फेर दिया। नौबत यहाँ तक पहुँची कि हथौड़े से पत्थर का बुत तोड़ना भी आतंक के दायरे में मान लिया गया और लाठी पकड़ने तक को आतंक माना गया। तो क्या बुत को हाथों से तोड़ा जाये?

किसी भी शब्द के सुनते ही हर इन्सान के दिल में एक विचित्र ढंग की भावनाएं पैदा हो जाती हैं और उसके बाद झटपट एक प्रकार के अर्थ समझ चुकने के कारण इन्सान उसकी तह तक जाने के लिए अधिक दिमाग नहीं लड़ाता। किसी अजनबी इन्सान के आते ही यदि यह कह दिया जाय कि वह बड़ा पापी है, लुच्चा है, तो सुनने वाले के दिल में उसके खिलाफ स्वभावतः ही एक तरह के घृणित ख्याल उत्पन्न हो जाते हैं। उस आदमी के सम्बन्ध में अधिक जाँच किये बगैर ही राय बना ली जाती है। इसी तरह शब्दों के प्रयोग सम्बन्धी मामले में कहा जा सकता है। वेदों और पुराणों में इस बात पर जोर दिया गया है कि जो भी शब्द बोले जायें, उनका सही प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि शाब्दिक भ्रम से देवताओं तक में बड़े-बड़े दंगे हो गये थे और बड़ा भारी नुकसान हो गया था। ठीक वही दशा पिछले सात साल से हमारी हो रही है। ताकत के उचित और अनुचित इस्तेमाल को बिना किसी सोच-विचार के फौरन आतंक का फतवा देकर घृणित होने की घोषणा कर दी गयी है।

यदि कोई डाकू कुल्हाड़ी लेकर किसी के घर में आ घुसे तो उसे आतंक (की कार्यवाही) कहा गया, लेकिन यदि घरवालों ने छुरी का इस्तेमाल कर डाकू को मार डाला तो उसे भी आतंक (का काम) माना गया। अर्थात् जब अपने और अपने परिवार की रक्षा के लिए ताकत का योग्य और नेक इरादों से इस्तेमाल किया गया तब भी उसे आतंक ही कहा गया। रावण जोर-जबरदस्ती सीता को उठा ले गया तो वह आतंक। और सीता को छुड़ाने गये राम ने रावण का सिर काट दिया तो वह भी आतंक! इटली, अमेरिका, आयरलैण्ड आदि देशों पर कई प्रकार के जुल्म करने वाले अत्याचारी भी आतंक फैलाने वाले समझे गये और नंगी तलवार पकड़े इन विदेशी डकैतों का छिपी हुई शमशीर से इलाज करने वालों को भी आतंक (फैलानेवाले) की उपाधि दी गयी। गैरीबाल्डी, वाशिंगटन, एमट और डी वलेरा आदि सभी इसी सूची में डाल दिये गये। क्या इसे इन्साफ कहा जा सकता है? आभूषण चुराने के लिए मासूम बच्चे की गर्दन काट देने वाला चोर भी घृणित और उस पत्थर-दिल चोर को फाँसी पर लटका देनेवाला न्यायकारी सम्राट भी आतंककारी और घृणित! कृष्ण भी उतना ही पापी, जितना कंस! शूरवीर भीम भी उतना ही गुनहगार, जितना कि उसकी धर्मात्मा पत्नी का अपमान करने वाला दुःशासन ! आह ! कितनी गलतफहमी है! कितना बड़ा अन्याय है! इसीलिए कुछ सीधे-सादे लोगों ने अच्छे कामों को भी केवल बल-प्रयोग के कारण अयोग्य और आतंकवादी कह दिया। साँप डँसता है, आदमी उसे मार डालता है। पर दोनों बराबर-बराबर नहीं। डँसना तो साँप की आदत थी और वह इस आदत से मजबूर था, लेकिन इंसान ने यह काम जानबूझकर किया, इसलिए उसे अधिक नीच समझा जाना चाहिए! कैसी विडम्बना है! नौबत यहाँ तक पहुँची कि देश और कौम के लिए सशस्त्र हो मैदाने-जंग में शहीद हो जाने वाले बहादुर भी पापी समझे जाने लगे। शिवाजी, राणा प्रताप और रणजीत सिंह जी को आतंक फैलानेवाले कहा गया और वे पूजनीय व्यक्तित्व भी घृणा का शिकार हो गये।

उधर दुनिया के सारे देश शस्त्रधारी हैं, प्रत्येक अपने हथियारों की ताकत को बढ़ाता चला जा रहा है। इधर हमारा यह भारतवर्ष है, जिसमें रहनेवालों का शस्त्र पकड़ना पाप समझा जाता है। 'लाठी मत पकड़ो' - यह शिक्षा देनेवाले लाठी देखते ही डरपोक और कायर लोगों की पीठ ठोंकने लगे। देश को गिरी हुई अवस्था से उठाकर उन्नति के रास्ते पर खड़ा करनेवाली शूर-वीरता मटियामेट होने लगी

और ताकत से डरने वाले दुश्मन राजी-खुशी दिखायी देने लगे। कुछ बिरले ही लोग थे जो यह दुखद स्थिति न देख सके और उन्होंने इसका खण्डन करना शुरू कर दिया। लेकिन हैरानी की बात तो यह है कि वे स्वयं भी इसी गड़बड़ी का शिकार हो गये और ठोस तर्कों से विरोध प्रकट करना उनके लिए कठिन हो गया। बस इसी से युग पलटने वाले लोगों ने चिढ़कर यह कहना शुरू कर दिया- हाँ, हाँ, हम आतंक फैलायेंगे, हम Violence ही करेंगे ! जैसे कोई शरीफ आदमी अपने अच्छे काम को गुनाह ठहराये जाते देखकर और फिर तर्कसम्मत उत्तर न दे पाने के कारण हड़बड़ाकर यही कहना शुरू कर दे - हाँ, हाँ, मैं गुनाह ही करूँगा। ठीक यही स्थिति इन बेचारे युग पलटने वालों की हो रही है। मद्रास कांग्रेस के अध्यक्ष तक ने यह कह दिया कि आज यदि हम शांतिपूर्ण (तरीके) के पक्षधर हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हम हमेशा ऐसे ही रहेंगे। हो सकता है कि हमें कल ही आतंक (Violence) के लिए तैयार होना पड़े। दुख तो इस बात का है कि यह 'आतंक' शब्द घृणित है। यह अपने गुणों व ठीक अर्थों में व्याख्यायित न होने के कारण दूसरों को अपने पक्ष में नहीं कर सका - अर्थात वे लोग जो कि बल-प्रयोग के पक्ष में हैं, वे भी ज़ालिम या आतंकवादी कहलवाना पसन्द नहीं कर सकते। इस एक शब्द 'आतंक' के अर्थों के अनर्थ होने के कारण कितना भारी नुकसान हो रहा है।

पूरी गलतफहमी की जड़ तो इस एक शब्द 'आतंक' की गलत व्याख्या है, क्योंकि आतंक व जुल्म भी बल-प्रयोग से ही होते हैं, इसलिए बल-प्रयोग से बहुत सारे अच्छे व बुरे काम होते हैं। जुल्म इनमें से एक है। एक पुरुष चोरी से किसी के घर में आग लगाता है, वह भी आग लगानेवाला है और दूसरी ओर रसोइया भी आग जलाता है, लेकिन रसोइया अपराधी नहीं कहला सकता और न ही आग लगाने का काम बुरा कहा जा सकता है। इसी तरह अपने देश की रक्षा के लिए, देश की आजादी की प्राप्ति के लिए शस्त्र लेकर मैदान में उतरनेवाला देशभक्त जब जालिम और बलशाली की गर्दन तलवार से उतार देता है या जालिम से किसी मजलूम का बदला लेता हुआ फाँसी पर चढ़ जाता है, वह या कोई और शूरवीर, जो कि अपने सगे-सम्बन्धियों, अपनी पत्नी या घर-बार की रक्षा के लिए हथियार लेकर लुच्चे जालिमों का मुकाबला करने के लिए निकलता है, वह बल-प्रयोग तो जरूर करता है, लेकिन आतंक नहीं फैलाता, अर्थात् इनके किये काम, आतंक के कामों में नहीं गिने जा सकते, बल्कि वे अच्छे और नेक कहे जाते हैं।

वह बल-प्रयोग जिससे निर्दोषों को बिना किसी कारण से सताया जाये या दूसरों को किसी नीच इच्छा से नुकसान पहुँचाया जाये, केवल ऐसे ही बेहूदा कामों के लिये (किये गये) बल-प्रयोग को आतंक कहा जा सकता है, लेकिन जब इसी ताकत को किसी गरीब अनाथ की मदद के लिए या ऐसे ही किसी और काम के लिए इस्तेमाल किया जाये तो वह आतंक नहीं, बल्कि पुण्य और परोपकार कहलाता है। इससे सिद्ध हुआ कि बल-प्रयोग करना कोई जुल्म, अत्याचार या आतंक नहीं, बल्कि यह बल-प्रयोग करनेवाले की नीयत पर निर्भर रहता है। यदि उसने किसी भले व नेक काम के लिए बल-प्रयोग किया है तो उसे आतंक का दोषी नहीं ठहराया जा सकता, लेकिन यदि उसने अपने व्यक्तिगत हित या निर्दोषों को दुख देने की खातिर अपने बल का गलत प्रयोग किया है तो उसे निःसंदेह, निर्भय होकर 'आतंकवादी' कहा जा सकता है। आतंक हमेशा ही घृणा योग्य है। आतंक ताकत का ऐसा इस्तेमाल है, जिससे बिना अपराध के किसी को दुख दिया जाये। लेकिन जहाँ जालिमों और गुण्डों की गुण्डई रोकने के लिए बल-प्रयोग किया जाये, वह आतंक नहीं बल्कि अच्छा व भला काम होता है, क्योंकि दुनिया के अच्छे कामों की परख की एक ही कसौटी है- यह कि वे काम दुनिया को सुख व आराम देनेवाले हों। किसी को दुख देना आतंक है, लेकिन दुख देनेवाले जालिम का खुरा-खोज मिटाना पुण्य है। ज़ालिम कंस जब जुल्म की तलवार पकड़ देवकी के घर में जा घुसता है, उसका उस समय का काम घृणित आतंक है, लेकिन जब इसी ज़ालिम के पंजे से जनता को छुटकारा दिलाने के लिए श्रीकृष्ण तलवार लेकर उसके दरबार में घुस जाते हैं और तलवार से उसका सिर गर्दन से अलग कर देते हैं, उस समय की उनकी यह कार्यवाही अभिनन्दनीय है। दोनों तलवारें हैं, दोनों हथियार हैं, दोनों कामों में बल-प्रयोग किया गया है, लेकिन एक काम जुल्मों से भरा है, इसलिए उसे आतंक कहा जायेगा और दूसरा काम नेक है, वह एक ज़ालिम और अत्याचारी की हस्ती को, गलत अक्षर की तरह, मिटाकर लोगों पर परोपकार करना है, इसलिए वह नेक काम सम्माननीय है। पर यदि हमारी मौजूदा फिलासफी के

हिसाब से देखा जाये तो दोनों ही काम आतंककारी और घृणित हैं - लोगों को दुख देनेवाला जालिम भी आतंककारी, और लोगों को ज़ालिम के पंजे से छुटकारा दिलानेवाला भी आतंककारी ! यदि हमारे देश में यही स्थिति रही तो अच्छे-बुरे की पहचान कैसे होगी और सम्माननीय कामों और घृणित कामों के फर्क का कैसे पता चलेगा?

यदि इतना जान लिया जाये कि ताकत का गलत इस्तेमाल अर्थात् गरीबों, अनाथों को सताना आतंक कहलाता है और इन सबको रोकना अच्छे काम समझा जाता है तो सारे भ्रम दूर हो सकते हैं। चोर, डाकू और हत्यारे जब हथियारों का इस्तेमाल करते हैं तो वे आतंक करते हैं (That force being aggressively used becomes violence), लेकिन जब घर का मालिक समय पाकर उस डाकू या हत्यारे की छाती में छुरी घोंप देता है या उस डाकू को कोई न्यायप्रिय शासक फाँसी की सजा देता है तो वह अच्छा काम होता है। इसीलिए हिन्दू धर्मशास्त्र के कर्ता मनु जी लिखते हैं- 'ज़ालिम, हत्यारे, अपराधी को खुफिया ढंग से या खुले मैदान चुनौती देकर या किसी और ढंग से छापा मारकर जान से मार डालने वाला दिलेर इन्सान पापी या गुनाहगार नहीं, बल्कि सम्माननीय इन्सान कहलाता है।' पुराने-से-पुराने और नये-से-नये कानून के अनुसार आत्म-रक्षा में किये बल-प्रयोग को कभी भी आतंक के नाम से नहीं पुकारा गया। यहाँ तक कि हिन्दू दण्ड विधान में भी उसे आतंक (Violence) नहीं कहा गया। आतंक फैलाना दण्डनीय है, लेकिन आत्म-रक्षा में बल-प्रयोग कानूनी ताकत समझी जाती है।

ठीक वही बात राजनीति की है। इटली पर उस देश की इच्छा के विरुद्ध आस्ट्रिया सिर्फ तलवार के जोर से राज करता था, इसलिए इटली को जबरदस्ती अधीन रखने का उसका काम आतंक था, घृणित था और खतम करने योग्य था। लेकिन जब गैरीबाल्डी और मैज़िनी ने इसके खिलाफ तलवार उठायी और उस ज़ालिम बादशाहत को उलटा दिया तब उनका यह काम घृणा लायक नहीं, बल्कि पूजनीय माना गया। ठीक यही बात हम १८५७ में हिन्दुस्तान की आजादी के लिए लड़ी लड़ाई के सम्बन्ध में कह सकते हैं, क्योंकि वह हमारे पहले बताये अनुसार जुल्म या आतंक नहीं था। इस लेख से यह अर्थ निकालना कि हम एक हथियारबन्द बगावत करने की प्रेरणा दे रहे हैं, बिल्कुल झूठ और बेकार होगा। आज हम हथियारबन्द बगावत करने या न करने सम्बन्धी कुछ नहीं लिखते। हथियारबन्द बगावत की प्रौढ़ता या विरोध अलग-अलग देशों के अलग-अलग समाचारों के कारण होते हैं। जो लोग इस समय हथियारबन्द बगावत को कठिन या समयपूर्व मानते हों, वे 'आतंक' शब्द की ओट लेकर उस विचार को ही त्याज्य न बनायें। इस विचार से ही आतंक शब्द की उक्त व्याख्या की गयी है, ताकि लोग फिर वैसी ही खतरनाक और ठीक न हो सकनेवाली भूल न करें।

विद्यार्थी और राजनीति

इस बात का बड़ा भारी शोर सुना जा रहा है कि पढ़नेवाले नौजवान (विद्यार्थी) राजनीतिक या पॉलिटिकल कामों में हिस्सा न लें। पंजाब सरकार की राय बिल्कुल ही न्यारी है। विद्यार्थियों से कालेज में दाखिल होने से पहले इस आशय की शर्त पर हस्ताक्षर करवाये जाते हैं कि वे पॉलिटिकल कार्यों में हिस्सा नहीं लेंगे। आगे हमारा दुर्भाग्य कि लोगों की ओर से चुना हुआ मनोहर, जो अब शिक्षा मंत्री है, स्कूलों-कालेजों के नाम एक सर्कुलर या परिपत्र भेजता है कि कोई पढ़ने या पढ़ाने वाला पॉलिटिक्स में हिस्सा न ले। कुछ दिन हुए जब लाहौर में स्टूडेंट्स यूनियन या विद्यार्थी सभा की ओर से विद्यार्थी-सप्ताह मनाया जा रहा था तो वहाँ भी सर अब्दुल कादर और प्रोफेसर ईश्वरचन्द्र नन्दा ने इस बात पर जोर दिया कि विद्यार्थियों को पॉलिटिक्स में हिस्सा नहीं लेना चाहिए।

पंजाब को राजनीतिक जीवन में सबसे पिछड़ा हुआ (Politically backward) कहा जाता है। इसका क्या कारण है? क्या पंजाब ने बलिदान कम किये हैं? क्या पंजाब ने मुसीबतें कम झेली हैं? फिर क्या कारण है कि हम इस मैदान में सबसे पीछे हैं? इसका कारण स्पष्ट है कि हमारे शिक्षा विभाग के अधिकारी लोग बिल्कुल ही बुद्धू हैं। आज पंजाब कौंसिल की कार्रवाई पढ़कर इस बात का अच्छी तरह पता चलता है कि इसका कारण यह है कि हमारी शिक्षा निकम्मी होती है और फिजूल होती है। और विद्यार्थी युवा जगत अपने देश की बातों में कोई हिस्सा नहीं लेता। उन्हें इस सम्बन्ध में कोई भी ज्ञान नहीं होता। जब वे पढ़कर निकलते हैं तब उनमें से कुछ ही आगे पढ़ते हैं, लेकिन वे ऐसी कच्ची-कच्ची बातें करते हैं कि सुनकर स्वयं ही अफसोस कर बैठ जाने के सिवाय कोई चारा नहीं होता। जिन नौजवानों को कल देश की बागडोर हाथ में लेनी है, उन

आज ही अक्ल के अंधे बनाने की कोशिश की जा रही है। इससे जो परिणाम निकलेगा वह हमें खुद ही समझ लेना चाहिए। यह हम मानते हैं कि विद्यार्थियों का मुख्य काम पढ़ाई करना है, उन्हें अपना पूरा ध्यान उस ओर लगा देना चाहिए लेकिन क्या देश की परिस्थितियों का ज्ञान और उनके सुधार के उपाय सोचने की योग्यता पैदा करना उस शिक्षा में शामिल नहीं? यदि नहीं तो हम उस शिक्षा को भी निकम्मी समझते हैं, जो सिर्फ क्लर्की करने के लिए ही हासिल की जाये। ऐसी शिक्षा की जरूरत ही क्या है? कुछ ज्यादा चालाक आदमी यह कहते हैं- "काका, तुम पॉलिटिक्स के अनुसार पढ़ो और सोचो जरूर, लेकिन कोई व्यावहारिक हिस्सा न लो। तुम अधिक योग्य होकर देश के लिए फायदेमन्द साबित होगे।"

बात बड़ी सुन्दर लगती है, लेकिन हम इसे भी रद्द करते हैं, क्योंकि यह भी सिर्फ ऊपरी बात है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है। एक दिन एक विद्यार्थी एक पुस्तक 'Appeal to the young by Prince Kropotkin ('नौजवानों के नाम अपील', प्रिंस क्रोपाटकिन) पढ़ रहा था। एक प्रोफेसर साहब कहने लगे, यह कौन-सी पुस्तक है? और यह तो किसी बंगाली का नाम जान पड़ता है ! लड़का बोल पड़ा कि प्रिंस क्रोपाटकिन का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। वे अर्थशास्त्र के विद्वान थे। इन नाम से परिचित होना प्रत्येक प्रोफेसर के लिए बड़ा जरूरी था। प्रोफेसर की 'योग्यता' पर लड़का हँस भी पड़ा। और उसने फिर कहा- ये रूसी सज्जन थे। बस ! 'रूसी!', कहर टूट पड़ा! प्रोफेसर ने कहा कि "तुम बोल्शेविक हो, क्योंकि तुम पॉलिटिकल पुस्तकें पढ़ते हो।"

देखिए आप प्रोफेसर की योग्यता! अब उन बेचारे विद्यार्थियों को उनसे क्या सीखना है? ऐसी स्थिति में वे नौजवान क्या सीख सकते हैं?

दूसरी बात यह है कि व्यावहारिक राजनीति क्या होती है? महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस का स्वागत करना और भाषण सुनना तो हुई व्यावहारिक राजनीति, पर कमीशन या वाइसराय का स्वागत करना क्या हुआ? क्या वह पॉलिटिक्स का दूसरा पहलू नहीं? सरकारों और देशों के प्रबन्ध से सम्बन्धित कोई भी बात पॉलिटिक्स के मैदान में ही गिनी जायेगी, तो फिर यह भी पॉलिटिक्स हुई कि नहीं? कहा जायेगा कि इससे सरकार खुश होती है और दूसरी से नाराज? फिर सवाल तो सरकार की खुशी या नाराजगी का हुआ। क्या विद्यार्थियों को जन्मते ही खुशामद का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए? हम तो समझते हैं कि जब तक हिन्दुस्तान में विदेशी डाकू शासन कर रहे हैं तब तक वफादारी करनेवाले वफादार नहीं, बल्कि गद्दार हैं, इन्सान नहीं, पशु हैं, पेट के गुलाम हैं। तो हम किस तरह कहें कि विद्यार्थी वफादारी का पाठ पढ़ें।

सभी मानते हैं कि हिन्दुस्तान को इस समय ऐसे देश-सेवकों की जरूरत हैं, जो तन-मन-धन देश पर अर्पित कर दें और पागलों की तरह सारी उम्र देश की आजादी के लिए न्योछावर कर दें। लेकिन क्या बुड्ढों में ऐसे आदमी मिल सकेंगे? क्या परिवार और दुनियादारी के झंझटों में फँसे सयाने लोगों में से ऐसे लोग निकल सकेंगे? यह तो वही नौजवान निकल सकते हैं जो किन्हीं जंजालों में न फँसे हों और जंजालों में पड़ने से पहले विद्यार्थी या नौजवान तभी सोच सकते हैं यदि उन्होंने कुछ व्यावहारिक ज्ञान भी हासिल किया हो। सिर्फ गणित और ज्योग्राफी का ही परीक्षा के पर्चों के लिए घोंटा न लगाया हो।

क्या इंग्लैण्ड के सभी विद्यार्थियों का कॉलेज छोड़कर जर्मनी के खिलाफ लड़ने के लिए निकल पड़ना पॉलिटिक्स नहीं थी? तब हमारे उपदेशक कहाँ थे जो उनसे कहते- जाओ, जाकर शिक्षा हासिल करो। आज नेशनल कॉलेज, अहमदाबाद के जो लड़के सत्याग्रह के बारदोली वालों की सहायता कर रहे हैं, क्या वे ऐसे ही मूर्ख रह जायेंगे? देखते हैं उनकी तुलना में पंजाब का विश्वविद्यालय कितने योग्य आदमी पैदा करता है? सभी देशों को आजाद करवाने वाले वहाँ के विद्यार्थी और नौजवान ही हुआ करते हैं। क्या हिन्दुस्तान के नौजवान अलग-अलग रहकर अपना और अपने देश का अस्तित्व बचा पायेंगे? नौजवानों को १९१९ में विद्यार्थियों पर किये गये अत्याचार भूल नहीं सकते। वे यह भी समझते हैं कि उन्हें एक भारी क्रान्ति की जरूरत है। वे पढ़ें। जरूर पढ़ें। साथ ही पॉलिटिक्स का भी ज्ञान हासिल करें और जब जरूरत हो तो मैदान में कूद पड़ें और अपने जीवन इसी काम में लगा दें। अपने प्राणों का इसी में उत्सर्ग कर दें। वरन् बचने का कोई उपाय नजर नहीं आता।

('भगत सिंह और उनके साथियों के दस्तावेज' से)

❑❑❑

दलित साहित्य का यथार्थ

– सूर्यनारायण रणसुभे

मराठी दलित-साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि आज सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में दलित-चेतना की खोज की जा रही है। इस साहित्य ने हम सबको आत्मपरीक्षण के लिए मजबूर कर दिया है। पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी साहित्य में भी दलित चेतना की खोज जारी है। दो एक शोधकार्य भी हुए हैं।

मराठी का दलित-साहित्य वास्तव में न कभी साहित्यिक आंदोलन था और न है। वास्तव में यह सामाजिक आंदोलन का साहित्यिक संस्करण मात्र है। परन्तु प्रगतिवाद की तरह यह किसी चौखट में बंधी विचारधारा का साहित्यिक संस्करण नहीं है। सामाजिक आंदोलन से यहाँ तात्पर्य हजारों वर्षों से वर्ण-व्यवस्था द्वारा नकारे गये तथा धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक गुलामी की जंजीरों में बंधे हुए मनुष्यों द्वारा मानवीय व्यवहार की उम्मीदों से किया गया आंदोलन है। इस आंदोलन का लक्ष्य मानव विरोधी व्यवस्था को मानवीय व्यवस्था में बदल कर, 'समता', 'बंधुता' और 'मैत्री' की स्थापना का है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जितनी विरोधी शक्तियाँ अवरोधक बनकर खड़ी हैं, उनके साथ उसे पूरी आक्रामकता के साथ जूझना भी है। इस लक्ष्य की स्थापना के लिए कृतसंकल्प यह चेतना एक ओर परम्परा के पुनर्मूल्यांकन का आग्रह करती है तो दूसरी ओर व्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में साझेदारी की मांग करती है। उसे पता है कि ढाई हजार वर्ष की लम्बी परम्परा ने उसे इतना क्षीण, असहाय और मजबूर कर दिया है कि इस लक्ष्य तक पहुँचना आसान नहीं है। इसी कारण उसे संघर्ष की मुद्रा धारण करनी पड़ती है। उसे पता है कि अन्य वर्णों को प्राप्त सुख-सुविधाएं और सामाजिक प्रतिष्ठा अगर उसे आसानी से मिल जाए तो उन वर्णों का अस्तित्व संकट में आ जायेगा। यहाँ अस्तित्व से तात्पर्य सुख-सुविधाओं का समान वितरण है। इस प्रकार के समान वितरण की तैयारी सवर्णों की नहीं है।

यह सही है कि सवर्णों के अमानवीय व्यवहार के कारण इनकी संवेदनाएँ मर चुकी हैं। 'भूख' के अलावा और किसी भी प्रकार की जरूरत को इनमें उभरने ही नहीं दिया गया था। 'श्रम' और 'भूख' तथा 'भूख' और 'श्रम' यहीं तक इनकी जीवन-यात्रा को सीमित कर दिया गया था। परन्तु डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर जी के प्रयत्नों के कारण इस वर्ग में, धीरे-धीरे ही क्यों न हो, अपने अस्तित्व को लेकर सोच की शक्ति उभरने लगी है। अपने 'अस्तित्व' और 'अस्मिता' के प्रति मनुष्य जब सजग हो उठता है, तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह छटपटाने लगता है। स्थूल रूप से इसे ही 'दलित-साहित्य' कहा जाता है।

अपने अस्तित्व के प्रति उसमें यह जो नयी चेतना उभर रही है, सम्भव है वह बहुत सूक्ष्म न हो, सम्भव है उसकी भाषा अनगढ़ हो, परन्तु अनुभूति का नया विशाल भण्डार लेकर वह हमारी सोच को, साहित्य को समृद्ध कर रहा है। उसकी अभिव्यक्ति से साहित्य में नये स्मारक भले ही न बन पा रहे हों, पर नये दस्तावेज उपलब्ध हो रहे हैं, इसे कोई नकार नहीं सकता। 'दलित चेतना' से तात्पर्य इन्हीं दस्तावेजों के साथ है और यह साफ जाहिर है कि यह चेतना 'दलितत्व' भोगे हुए व्यक्ति से ही अभिव्यक्त हो सकेगी। हिन्दी के कई समीक्षक तथा लेखक दलित चेतना से मतलब दलित-व्यक्ति के चित्रण से लेते हैं, जो सरासर गलत और भ्रममूलक है। सवर्ण लेखक द्वारा दलित पात्रों का चित्रण करने मात्र से यह साहित्य दलित साहित्य नहीं होता। प्रश्न दलित व्यक्ति के चित्रण का नहीं, उसकी मानसिकता का है, उसके भोगे हुए दुखों का है, अपमान, घृणा, तिरस्कार और उपेक्षित जीवन जीने की यातना का है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रतिभा नामक कोई शक्ति ही नहीं होती। प्रतिभा के बल पर बहुत कुछ सोचा, समझा और जाना जा सकता है। परकाया प्रवेश भी कुछ सीमा तक मान्य है। परन्तु साहित्य के भीतर व्यक्त संवेदना की वर्गीय विशेषता को भी हमें ध्यान में रखना होगा। जिस वर्ग से हम जुड़े हुए हैं, उस वर्ग के दुःखों को हम समझ सकते हैं, बहुत ऊँचे वर्ग के सुख-दुःखों की हम कल्पना कर सकते हैं, परन्तु सम्पूर्ण समाज द्वारा तिरस्कृत वर्ग के दुःखों की अंतिम पर्त तक हम

जा पाएंगे - ऐसा दावा कोई भी लेखक नहीं कर सकता। दलित चेतना के नाम पर हम उसकी भूख का दर्दनाक चित्रण पूरी निर्ममता के साथ कर सकते हैं परन्तु पूरी व्यवस्था के प्रति इस वर्ग के भीतरी आक्रोश को, अस्तित्व और अस्मिता की उसकी मांग को पूरे तीखेपन के साथ व्यक्त नहीं कर पाएंगे। अपवाद रूप में केवल प्रेमचंद ही इस क्षेत्र में अकेले खड़े हैं।

दलित वर्ग का करुण चित्रण करना और पाठकों के मन में उनके प्रति दया, करुणा जगाना दलित-चेतना की अभिव्यक्ति नहीं है, अपितु पूरी व्यवस्था की बुनावट पर प्रहार करना और सवर्णों की भीतरी मानसिकता को (उनके अपने सम्पर्क में आई मानसिकता को) तथा उनकी यातना को पूरी निर्ममता के साथ व्यक्त करना दलित चेतना है। यह सही है कि दलित चेतना का मुख्य स्वर आक्रोश का है, संघर्ष का है, अपने नैसर्गिक अधिकारों की मांग का है, आत्मपरीक्षण का है। 'नकार' और 'विद्रोह' की इसी अधिकता के कारण इस साहित्य पर कुछ प्रश्नचिह्न भी लगाये गये। वास्तव में 'नकार' और 'विद्रोह' इस साहित्य की प्रकृति है, लक्ष्य तो सहज मानवीय संबंधों का है। वर्ण और जाति में बँटे हुए इस समाज की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि यहाँ का आदमी बिना वर्ण या जाति के, मात्र अपने 'होने' की पहचान देकर जी नहीं सकता। उसे किसी-न-किसी प्रकार की जाति या उपजाति के कोश में ही जीना पड़ता है और इस प्रकार के जीने को ही यहाँ जीवन की सार्थकता समझा जाता है। मनुष्य के रूप में अपनी पहचान यहाँ किसी को स्वीकार्य ही नहीं है और दलित चेतना इसी मानसिकता पर प्रहार करती है। इसी कारण इस साहित्य में एक ओर विशुद्ध मनुष्यता की माँग का आग्रह है तो दूसरी ओर दलित जीवन की भयावह यातनाओं का खुला और निर्मम चित्रण भी है। इन दो स्तरों पर दलित-चेतना साहित्य में अभिव्यक्त होती रही है।

दलित-चेतना के नाम पर आज हिन्दी में जो कुछ भी उपलब्ध है, वह अपरागत है, अनुमानित है (यहाँ फिर प्रेमचंद का अपवाद है)। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक जाति या वर्ण की यातना या अनुभूतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं और प्रत्येक का अपना अलग साहित्य होना चाहिए। यहाँ तात्पर्य इतना ही है कि तीन वर्णों का जीवन, उनकी यातना का स्वरूप बहुत कुछ एक सा है और दलितों की व्यथा, कथा, आनंद और यातना भिन्न प्रकार की है। गुलामी की यातना को गुलाम ही पूरी गहराई के साथ अनुभव कर सकता है। धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक गुलामी की श्रृंखलाओं को तोड़कर बराबरी के अहसास और हक के लिए एक ऐसी चेतना इस साहित्य द्वारा व्यक्त होने के लिए छटपटा रही है जो मात्र मनुष्यता की धुरी पर टिके रहना जायज समझती है। इस प्रकार की चेतना १९६० के पूर्व भारत की किसी भी भाषा में व्यक्त नहीं हो पायी थी। मराठी में ही इसकी पहली अभिव्यक्ति हुई। इसके मूल में मराठी प्रदेश में हुए महात्मा जोतिबा फुले और डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर जी का व्यक्तित्व और कार्य कारणीभूत रहा है। इन दो महापुरुषों ने इस उपेक्षित वर्ग के व्यक्तित्व में अस्मिता के बीज अंकुरित किये थे। परिणामतः यह चेतना विद्रोह के साथ व्यक्त हो रही है। यह ध्यान रखें कि यह चेतना किसी जाति या वर्ण के विरुद्ध न थी, न है और न रहेगी। यह उस सनातनी मानसिक चेतना के खिलाफ आक्रामक मुद्रा धारण कर रही है जो उसकी ओर हिकारत की दृष्टि से देखती है। दलित-चेतना विशुद्ध मानसिकता नहीं है, अपितु वर्ण व्यवस्था की क्रूरता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

दलित-चेतना का प्रस्थान बिन्दु वर्गहीन, वर्णहीन और जातिविहीन 'मनुष्य' है और ऐसे मनुष्य-धर्म की प्रतिष्ठा ही उसका लक्ष्य है। इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रत्येक युग के, प्रत्येक देश के साहित्य का प्रस्थान बिन्दु और उसका लक्ष्य मनुष्य धर्म ही होता है। सिद्धांततः यह ठीक होते हुए भी भारतीय साहित्य के संदर्भ में यह बात लागू नहीं होती। क्योंकि यहाँ मनुष्य की प्रतिष्ठा का प्रस्थान बिन्दु वर्ण और जाति की चौखट से निकलता रहा है और उसी के भीतर चक्कर काटता हुआ दम तोड़ता रहा है। यही कारण है कि दो एक अपवादात्मक रचनाकारों को छोड़ कर हमारी रचनाएं वैश्विक स्तर पर पहुँच नहीं पा सकी हैं। दर्शन और आचरण में, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में एक विचित्र विसंगति या अंतर रखकर हम जीते रहते हैं। अद्वैतवाद का दर्शन देने वाला यह देश, प्रकृति की उपासना करने वाला यह देश, अपने बीच स्थित एक वर्ग को अछूत, अस्पृश्य घोषित कर उसके साथ अमानवीय व्यवहार करता रहा है, आज भी कर रहा है। सवर्णों की इस विसंगति को, उनकी कथनी-करनी में स्थित अंतर को, उनकी ढोंगी वृत्ति को, दलित-चेतना ही गहराई से समझ सकती है।

(राष्ट्रीय सहारा, १३ फरवरी, १९९४)

□□□

हिन्दी कथा-साहित्य और सामाजिक यथार्थ

— श्रीलाल शुक्ल

उन्नीसवीं सदी के यूरोप और विशेषतः फ्रांस में यथार्थवादी रचनाकारों का विश्वास था-भोला-भाला, पर दृढ़ विश्वास कि समाज के विभिन्न रूपों और परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण अगर पूरी वस्तुनिष्ठा के साथ पाठकों के आगे पेश कर दिया जाए तो वही साहित्य की उत्कृष्टता होगी (यह और बात है कि पुनर्प्रस्तुतीकरण, यानी 'रि-प्रेजेंटेशन' में नितान्त वस्तुनिष्ठता किस हद तक सम्भव या व्यावहारिक है, इस पर आज तक बहसें हो रही हैं)। एक और भी विश्वास था सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की भूमिका का। आगे चलकर समाजवादी यथार्थ में साहित्य को सामाजिक क्रान्ति का औजार मानने का जो सिद्धान्त पनपा, वह उन्नीसवीं सदी के यथार्थवाद या उसके और गहन रूप प्रकृतिवाद के साथ उस तरह नहीं जुड़ा था पर वहाँ भी कहीं न कहीं यह विश्वास जरूर था कि ऐसा साहित्य समाज का यथातथ्य ब्यौरा देकर बुर्जुआ समुदाय के बीच सामाजिक परिवर्तन का वातावरण सृजित करने में कुछ मदद करेगा। यह आनुषांगिक साहित्य का मूल उद्देश्य नहीं था, एक आनुषांगिक लाभ भर था।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में, यथार्थवाद के सबसे बड़े पुरोधा जोला के जीवन काल ही में यथार्थवाद का ह्रास शुरू हुआ, पर वही समय था जब मार्क्सवादी कला सिद्धान्तों की यूरोप के बौद्धिक जगत में साख जमने लगी थी। बाद में गोर्की जैसे महान कृतिकार के प्रभाव में रूस में समाजवादी यथार्थ की हैसियत मजबूत हुई, उससे सारे सभ्य संसार में साहित्य के उद्देश्य और लक्ष्य को लेकर नये सिरे से विचार हुआ और साहित्यकारों का विराट समुदाय साहित्य को समाज के क्रांतिकारी परिवर्तनों का वज्रवाही मानने के लिए और उसी के अनुसार साहित्य सर्जना के लिए प्रस्तुत हुआ। इस सिद्धान्त को कुछ और व्यापक स्वीकृति दिलाने के लिए समाजवादी यथार्थ की जगह कुछ ज्यादा असाम्प्रदायिक, कुछ ज्यादा 'अस्पष्ट सामाजिक यथार्थ' जैसे पद का कालान्तर में प्रयोग किया जाने लगा।

सामाजिक यथार्थ का सिद्धान्त इस धारणा पर अवलम्बित है कि साहित्य में यथार्थ का सोद्देश्य चित्रण होना चाहिए और उद्देश्य है उससे समाज का क्रांतिकारी विकास जो सर्वहारा संघर्ष को गति दे और समाजवादी निर्माण की दिशा में समाज को आगे बढ़ाये। इस प्रकार यह यथार्थवाद एक विशेष दृष्टि से ही वास्तविकता के चित्रण की माँग करता है। इस उद्देश्य को देखते हुए समाजवादी यथार्थ से सम्पृक्त साहित्य की स्वाभवतः यह शर्त होनी चाहिए कि विषय वस्तु और रूप की दृष्टि से वह साधारण जन के लिए सहज और बोधगम्य हो। इस शर्त पर अतिरिक्त जोर देने का परिणाम यह भी हो सकता है और हिन्दी में हुआ भी है कि प्रतिभा, दक्षता, अलंकारिता, प्रतीकात्मकता और प्रयोगशीलता आदि को लगभग फालतू मान लिया जाय। इसके लिए एक शब्द की ईजाद भी की गयी है जो गाली की तरह इस्तेमाल किया जाने लगा है : 'रूपवाद'।

सामाजिक यथार्थ के पूजकों में इसे उसकी एक सीमा नहीं माना जाता कि उसका लक्ष्य मूलतः राजनैतिक है। इसके प्रति हमारी प्रतिबद्धता का आधार भले ही नैतिक कहा जाए पर जैसे राजनीति परम्परागत मूल्यों की कसौटी पर नैतिक या नैतिकेतर हो सकती है, सामाजिक यथार्थ से प्रेरित साहित्य भी ऐसा हो सकता है। पर यह मुद्दा ही अप्रासंगिक हो जाएगा यदि वह साहित्य समाज के पुनर्निर्दिष्ट क्रांतिकारी विकास में सहायक हो। टॉलस्टाय के साहित्य में, मुख्यतः उनकी बाद की रचनाओं में जिस आलोचनात्मक यथार्थ (क्रिटिकल रियलिज़्म) का साक्षात्कार होता है, उसका आधार भी नैतिक प्रतिबद्धता है। उसमें सत्य, पुरुषार्थ, स्वावलम्बन, सदाचार, सादगी आदि पर जोर है और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का प्रतिरोध है पर उस प्रतिबद्धता का स्वरूप गोर्की जैसे समाजवादी यथार्थ के लेखक की प्रतिबद्धता से भिन्न है।

अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ सिर्फ यह तथ्य रेखांकित करना है कि सामाजिक यथार्थ का सिद्धान्त मूलतः साहित्य को ऐसी प्रतिबद्धता से जोड़ता है जो एक समाजवादी शोषणमुक्त समाज की प्रतिष्ठा में और उसके विरोधियों से संघर्ष करने में आस्था रखती है। यह सिद्धान्त इस प्रकार साहित्य को प्रोपेगैण्डा भले ही न माने, उसे अनिवार्यतः एक पूर्वनिर्दिष्ट दिशा में होने वाले सामाजिक परिवर्तन का हथियार मानता है। स्वाभाविक है कि कला और साहित्य की स्वायत्तता जैसी धारणा को यह या तो वाग्जाल समझता है या उसे प्रतिक्रियावाद या भ्रान्ति की उपज मानता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रसंग में यह प्रस्तावना जरूरी थी क्योंकि मुझे लगता है कि जहाँ एक ओर हमारे आधुनिक साहित्य में सामाजिक यथार्थ मुख्य धारा में है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक साहित्य सामाजिक यथार्थ का पक्षधर नहीं बल्कि प्रकृतिवाद के नजदीक है। एक तरह से वह उन्नीसवीं सदी वाले योरोपीय या फ्रांसीसी यथार्थवाद का भग्नावशेष है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का अध्ययन करते समय हमें इस पक्ष को लेकर विशेष सतर्क रहना होगा।

सामाजिक यथार्थ को आधुनिक हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा में मानने का सबसे बड़ा कारण यह है कि हिन्दी में साहित्य को सामाजिक दुर्गति का प्रकाशक और उसमें परिवर्तन की चेतना का संवाहक प्रगतिशील आन्दोलन की शुरुआत के काफी पहले, बड़े सहज ढंग से मान लिया गया था। ऐसा होना ही चाहिए था। हिन्दी क्षेत्र मूलतः खेतिहर मजदूरों, छोटे किसानों और संघर्षशील वर्गों का क्षेत्र है। तभी उसके साहित्य का स्तर आधुनिक काल में यानी तब से जब से कि साहित्यकार का अर्थ मात्र कवि नहीं रहा और कवि का अर्थ एकमात्र राजाश्रयी नहीं रहा, वस्तुतः यथार्थवादी है और शुरू में जब सामाजिक यथार्थ की चर्चा नहीं थी, साहित्य उपदेशात्मक रूप से सुधारवादी या जैसा कि आरम्भिक प्रेमचन्द में था, आदर्शोन्मुख यथार्थपरक था।

१९३६ के बाद यानी प्रगतिशील आंदोलन की सक्रियता के साथ हमारे साहित्य को सामाजिक यथार्थ का जोरदार सहयोग मिला। पर यह न भूलना चाहिए कि बादल को सामाजिक क्रांति का प्रतीक बनाकर निराला ने १९२४ में ही लिखा था-

तिरती है समीर - सागर पर
अस्थिर सुख पर दुख की छाया -
जग के दग्ध हृदय पर -
निर्दय विप्लव की प्लावित माया -
यह तेरी रण - तरी
भरी आकांक्षाओं से
घन, भेरी गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल फिर-फिर

उन दिनों हिन्दी आलोचना में यथार्थवाद की खास चर्चा नहीं थी, सामाजिक यथार्थ की तो बिल्कुल ही नहीं, पर निराला की संवेदना सर्वहारा को पूंजीपतियों के मन में आतंक की सृष्टि करते दिखाती है।

रुद्र कोष है, क्षुब्ध तोष
अंगना - अंग से लिपटे भी
आतंक - अंक पर काँप रहे हैं।
घनी, वज्र गर्जन से बादल।
त्रस्त नयन - मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु है, शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता है कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर!

कविता के कुछ प्रयोगों को छोड़कर, जिनमें रहस्यवाद छायावाद, प्रयोगवाद जैसे विक्षेप आते हैं - भारतेन्दु के समय से लेकर अब तक हिन्दी के सर्जनात्मक साहित्य का मूल स्वर वस्तुतः सोद्देश्य रूप से यथार्थवादी है। यह बात हिन्दी के कथा साहित्य पर खास तौर से लागू है, और वहाँ भी सबसे ज्यादा कहानी पर।

पर यहाँ सामाजिक यथार्थ के प्रसंग में मैं कहानी का खास जिक्र न कर पाऊँगा। कारण यह है कि जहाँ पाश्चात्य साहित्य में कविता, उपन्यास और नाटक पिछले सौ वर्षों में साहित्य की प्रमुख विधाओं के रूप में उभरे हैं वहीं, कहानी महत्वपूर्ण होते हुए भी वस्तुतः एक अल्प विधा के रूप में ही अवस्थित है। इसके विपरीत हिन्दी में प्रेचन्द के समय से ही कहानी, कविता के बाद सबसे अधिक सशक्त विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में

आलोचनात्मक स्तर पर सबसे प्रखर और सबसे ज्यादा व्यापक बहसें कहानी पर ही हुई हैं और चूंकि हिन्दी के अधिकांश कहानी लेखक हरियाणा के सम्पन्न अंचलों से लेकर छोटा नागपुर, रांची, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड, बीकानेर, बस्तर जैसे समस्याग्रस्त क्षेत्रों में साहित्य रचना कर रहे हैं, इसलिए और दूसरे अनेक कारणों से हिन्दी कहानी समाज की अत्यंत वैविध्यपूर्ण स्थितियों को उजागर करती है। वह पीड़ित और शोषित वर्गों की निराशाओं, आकांक्षाओं और संघर्षशील प्रवृत्तियों को साहित्य में जगह देती है। सामाजिक यथार्थ को लेकर हिन्दी कहानी का पक्ष इतना महत्वपूर्ण है कि मुझे लगता है उसके लिए एक स्वतंत्र अध्ययन की आवश्यकता है। इस सामान्य टिप्पणी में उसके साथ पूरा-पूरा न्याय नहीं हो सकता।

इस छोटे विषयान्तर के बाद अब पिछले विषय पर लौटा जाय। अभी मैंने आधुनिक हिन्दी साहित्य के अध्येताओं को सामाजिक यथार्थ के नाम पर परोसे जाने वाले प्रकृतिवाद से आगाह किया है पर यह न भूलना चाहिए कि यह प्रकृतिवाद भी उतना संभावनाहीन नहीं है। उन्नीसवीं सदी के अन्त में यथार्थवाद का पराभव वस्तुतः उसकी सम्पूर्ण पराजय नहीं सिद्ध करता। यूरोप के ही अनेक देशों और अमेरिका में अनेक समर्थ लेखक उन्नीसवीं सदी की भग्नप्राय परम्परा में पनपे हैं। मेरा मन्तव्य रूस के अनेक क्रांतिधर्मा लेखकों से ही नहीं, इंग्लैंड में आर्नोल्ड बेनेट, गाल्ज़वर्दी और सॉमरसेट माम जैसे उपन्यासकारों या अमेरिका के फ्रैंक नॉरिस और अप्टन सिंक्लेयर जैसे लेखकों से है (वैसे 'जंगल' में अप्टन सिंक्लेयर सामाजिक यथार्थ के ज्यादा नजदीक पड़ते हैं)। उसी तरह सामाजिक यथार्थ की माँगों से लगभग उदासीन यथार्थवादी साहित्यकारों का एक महत्वपूर्ण वर्ग हिन्दी में भी पनपा है, जिसका जिक्र आगे किया जायेगा।

इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पश्चिमी देशों में जब यह हो रहा था, उसी समय हिन्दी में प्रेमचन्द उपन्यास लिख रहे थे, पर वे कई अर्थों में सबसे भिन्न थे।

देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी जैसे लेखकों को छोड़ दें तो बिना हिचक कहा जा सकता है कि बीसवीं सदी के आरम्भ में ही हमारा कथा साहित्य सोद्देश्य रूप से यथार्थवादी है यानी वह आधुनिकता की कसौटी पर सामाजिक परिवर्तन का पक्षधर है। मेरा इशारा लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरू' से लेकर मन्नन द्विवेदी गजपुरी के 'रामलाल' और अयोध्या सिंह उपाध्याय की 'अधखिली कली' या 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' तक की ओर है। इस प्रवृत्ति का परिष्कृत और सशक्त रूप फिर प्रेमचन्द के साहित्य में मिलता है, पर मुझे गलत न समझा जाए। अपनी रचनाओं में प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य की किसी पूर्ववर्ती छवि या धारणा से प्रेरित न थे, विदेशी साहित्य से भी नहीं। इस शताब्दी के तीसरे दशक में एक लेखमाला द्वारा किसी समीक्षक ने दिखाने की कोशिश की थी कि प्रेमचन्द थैकरे से अनुप्राणित हैं। अनुप्राणित मेरा शब्द है, वहाँ नकल करने की बात कही गयी थी। पर उनका रचना संसार पूर्णतः भारतीय है। वह यहाँ की समस्याओं और संघर्ष को समेटता है और तत्कालीन या पूर्ववर्ती योरोपीय साहित्य से उसका कोई लेना-देना नहीं है। जहाँ तक हिन्दी की बात है सच तो यह है यहाँ प्रेमचन्द के पहले के कथा साहित्य की कोई विशेष छवि नहीं थी और न उस पर आधारित कोई प्रेरक धारणा ही सम्भव थी। वास्तव में प्रेमचन्द ने जो 'रंगभूमि' जैसा उपन्यास लिखा, उसका कोई 'मॉडल' पहले से न तो भारत में था न हमारी जानकारी के पाश्चात्य देशों ही में।

इस दृष्टि से प्रेमचन्द भारतीय साहित्य की एक अभूतपूर्व और विस्मयजनक घटना थे। उनसे लगभग छः दशक पहले फकीरचन्द सेनापति ने उड़िया में जिस मौलिक और पूर्व दृष्टान्त रहित लेखकीय संवेदना का परिचय दिया था उसे और भी व्यापक फलक पर, और भी क्रांतिदर्शी प्रवृत्ति के साथ, सम्भवतः सेनापति से सर्वथा अपरिचय के स्तर पर, प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित किया है, पर एक मामले में प्रेमचन्द का साहित्य अपने पूर्ववर्ती और समकालीन लेखकों से सर्वथा भिन्न नहीं था। 'सरस्वती' की तत्कालीन फाइलें इस बिन्दु को स्पष्ट कर देंगी। उस जमाने की छायावाद आदि से अछूती और अनावश्यक प्रयोगों से विरहित 'यथातथ्यवादी' कविताओं और कहानियों आदि में एक वैचारिक ऊर्जा थी जो साहित्य को समाज से जोड़ती थी। 'प्यारे जीवें, जगहित करें, गेह आवें न आवें' जैसी बहु उद्धृत पंक्तियों का जिक्र करके इस टिप्पणी का कलेवर बढ़ाना निरर्थक है, पर इतना बिना हिचक कहा जा सकता है कि वह समय अनजाने ही

साहित्य में सामाजिक यथार्थ के बहुत करीब था।

१६३१-३२ में लिखे गए उपन्यास 'कुण्डली चक्र' के दो चरित्र मुझे कभी नहीं भूलते। वृन्दावन लाल वर्मा ने 'पैकू' और 'बुद्धा' नामक दो खेतिहरों को वहाँ ऐसी कथा में शामिल किया है जो एक काम-लोलुप, चतुर, युवा, विलासी और कर्ज में लदे हुए जमींदार की गाथा है। विडम्बना यह है कि सर्वहारा दल के ये दो प्रौढ़ पर कमजोर रंगरूट उसी ऋणग्रस्त जमींदार के ऋण से ग्रस्त हैं। एक भयानक गर्म रात में अपनी विषाक्त पीड़ा के साथ बार-बार प्रकट होने वाले और बार-बार अलक्षित हो जाने वाले अस्थिमात्र प्रेतों की तरह के ये दो चरित्र बार-बार हमारी सामाजिक चेतना पर हथौड़ा सा मारते हैं। उसके सात साल पहले की निराला की कविता 'बादल राग' का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है और उसके भी कुछ साल पहले 'सरस्वती' में भोजपुरी की एक कविता 'एक डोम की आत्मकथा' छपी थी, वह तत्कालीन हिन्दी साहित्य की जनचेतना का एक अद्‌भुत उदाहरण है। लगभग पचहत्तर साल पुरानी यह कविता आज भी समाज के अभिजात, चिकने-चुपड़े गाल पर तमाचे के निशान जैसी चिपकी हुई है।

अपने अन्तिम दिनों में प्रेमचन्द जहाँ थे, वहाँ वे अचानक नहीं पहुँचे थे। सामाजिक स्थितियों और उनमें वांछनीय परिवर्तनों को लेकर उनके आँख-कान शुरू से ही खुले हुए थे पर उनके साहित्यिक कैशोर्य में उनका आकलन हमेशा तात्कालिक और इकहरा होता था। उनकी साहित्यिक प्रौढ़ता में वही एक स्तर पर अत्यन्त वृहद्‌दर्शी बना और अत्यन्त गहन भी। तभी वे आरम्भिक अवस्था में यथार्थपरक होते हुए भी एक ओर 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर' या 'परीक्षा' लिख सके और दूसरी ओर सामाजिक उत्पीड़न प्रसंग में 'सवा सेर गेहूँ' या 'सद्‌गति' पर उन्होंने बाद में 'पूस की रात' और 'कफन' लिखा जहाँ खलनायक पर खुद पाठक उंगली रखेगा। प्रेमचन्द उसे खुलकर सामने नहीं लाते।

इसलिए कि सामाजिक यथार्थ के प्रति सचेत होते हुए भी शुरू में प्रेमचन्द का आकलन, या उसे समाज शास्त्रीय नाम दिया जाए तो विश्लेषण, इकहरा है। वे ग्रामीण समाज को सूदखोरों, पुरोहितों और जमींदारों के जाल में फँसा हुआ पाते हैं, पर बाद के प्रेमचन्द यह महसूस करने लगते हैं कि गरीबी, अन्धविश्वास और कानूनी मजबूरियों में जकड़ी हुई जनता के शोषक सूदखोर, पुरोहित या जमींदार भर नहीं हैं, एक पूरी व्यवस्था है जो इन सबका पोषण करती हुई उनका अपने अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करती है।

उत्तरकालीन प्रेमचन्द इशारे से पूरी व्यवस्था पर चोट करते हैं या इससे भी अधिक सूक्ष्म तरीके अपनाते हैं। वे समाज की दुर्गति का कच्चा चिट्ठा खोलकर भी खलनायक का नाम नहीं लेते। शायद इसलिए कि वह स्वतः स्पष्ट है, और यह तरीका बहुत ही कारगर है- 'पूस की रात' में यही है और यही 'कफन' में है। वहाँ दरिद्रता ही खलनायक है, वही कहानी के प्रमुख पात्रों के अमानवीकरण की जिम्मेदार है। 'गोदान' में भी कुछ ऐसा ही है। वहाँ सूदखोर होते हुए भी मातादीन या दुलारी सहुआइन खलनायक नहीं हैं, समाज की विकृत संरचना के हिस्से भर हैं। और होरी की दुर्गति की जिम्मेदारी वहाँ सीधे किसी सूदखोर, जमींदार या पुरोहित पर नहीं जाती, वह एक भयावह व्यवस्था पर जाती है।

देखा जा सकता है कि अपनी पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती दोनों ही अवस्थाओं में प्रेमचन्द में सामाजिक यथार्थ का प्रखर स्वर है। हिन्दी का सौभाग्य है कि अपने आधुनिक विकास के आरम्भिक चरणों में उसे प्रेमचन्द जैसा रचनाकार मिला।

छायावादियों, रहस्यवादियों या मंचीय हालावादियों को भुला दें तो यह महत्व की बात है कि १६४७ में भारत को आजादी मिलने तक अधिकांश हिन्दी लेखक या तो आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रहे हैं या जाने-अनजाने सामाजिक यथार्थ के पक्षधर, पर आजादी मिलने के बाद हिन्दी में सशक्त कथाकारों का एक वर्ग उभरा जो यथार्थवाद के उस रूप के निकट था जिसे प्रकृतिवाद (नैचुरलिज़्म) कहा जाता है। उनकी सामाजिक स्थितियों पर बड़ी पैनी नजर रही है पर उनके अन्तर्विरोधों को तोड़कर समाज के परिवर्तन की मीमांसा में उनकी रुचि स्पष्ट नहीं है। उपेन्द्रनाथ अश्क जो 'गिरती दीवारें' में सामाजिक यथार्थ के काफी करीब हैं, बाद में प्रकृतिवाद से ही संतुष्ट नजर आते हैं। भगवती चरण वर्मा, अमृतलाल नागर और शिवप्रसाद सिंह आदि भी मूलतः इसी श्रेणी में हैं। इसी कोटि में विवेकी राय का 'समर शेष है' तथा दूसरी रचनाएं हैं। वे समाज की विभिन्न स्थितियों का चित्रण करती हैं, कुछ बदलने की कसमसाहट दिखाती है और

वहीं रुक जाती हैं पर अमृतलाल नागर या भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में अन्वीक्षण की सशक्तता को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

वर्मा जी अपने उपन्यासों में समाज के विभिन्न पक्षों का व्यापक चित्रण करते हैं, हमें राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनों में ले जाते हैं और सामाजिक बुराइयों का समझदार विश्लेषण भी करते हैं, पर आदर्श समाज के विषय में अपनी अवधारणा का ज्यादा अता-पता नहीं देते। उपन्यासकार की भूमिका मूलतः एक रिपोर्टर जैसी रहती है।

नागर जी की स्थिति कुछ भिन्न है। 'बूँद और समुद्र' में वे एक रूढ़िग्रस्त और परिवर्तनमान समाज का चित्र ही नहीं देते, अपनी कल्पना के आदर्श समाज की झलकियाँ भी देते चलते हैं पर बाद के उपन्यासों में वे विवरणात्मक स्तर पर ज्यादा कौशल प्रकट करते हैं। एक रिपोर्टर की भूमिका ज्यादा मुखर हो जाती है और सामाजिक स्थितियों के प्रति एक अजीब सी तटस्थता व्यक्त होने लगती है। इसे 'अमृत और विष' और उससे भी अधिक 'करवट' में देखा जा सकता है।

उसी पीढ़ी के साहित्यकार यशपाल का रचना संसार इन दोनों से भिन्न है। सैद्धान्तिक और वैचारिक स्तर पर अत्यधिक स्पष्टता का खतरा उठाते हुए भी यशपाल अपने कथानकों को एक सुनिर्दिष्ट लक्ष्य की ओर ले जाते हैं और वह लक्ष्य समाज की जड़ता पर प्रहार करने से, उसे बदलने से जुड़ा हुआ है। यशपाल की चिन्ता समाज में व्यक्ति की उतनी नहीं, जितनी व्यक्ति से बने समाज की है क्योंकि वे व्यक्ति के चरित्र में सामाजिक शक्तियों की भूमिका समझते हैं। यशपाल के साहित्य में और कमियाँ भले ही निकाली जाएं पर सामाजिक यथार्थ के शास्त्रोक्त उदाहरण के रूप में उनका साहित्य अद्वितीय है।

अद्वितीयता के प्रसंग में फणीश्वर रेणु को कभी नहीं भुलाया जा सकता। उनकी कहानियाँ और उपन्यास, मुख्यतः 'मैला आँचल', जनजीवन का जैसा बहुरंगी फलक प्रस्तुत करते हैं वैसा किसी अन्य लेखक में पाना मुश्किल है। वहाँ जनता के दुख - दैन्य, करुणा और संघर्ष तो हैं ही उसी जीवन के अन्तस्तल में खोजकर जीवन का रस पाने का भी आग्रह है। इस दृष्टि से रेणु का साहित्य कहीं भी एकांगी नहीं बन पाता। जीवन का क्रम कई स्तरों पर एक साथ चलता दीखता है। इस समर्थ कृतिकार का असमय में ही चला जाना हिन्दी के लिए एक चिरन्तन विषाद की स्थिति है।

सामाजिक चिन्तन से जुड़े यथार्थवाद में एक खतरा भी है - वर्तमान की भयावह विषमताओं और विसंगतियों को देखते हुए निराशावाद की गुफा में खो जाने का, पराजय की आशंका का शिकार बनने का। यथार्थवाद वास्तविकता से दूर नहीं जा सकता तभी निराशा है। उजाले की लकीर देखने के लिए शायद लेखन की ही नहीं, सामाजिक परिवर्तन के कर्म से भी जुड़ने की जरूरत है। जो भी हो, हिन्दी के अनेक प्रगतिशील रचनाकार, मुख्यतः कवि, इस प्रवृति से बच नहीं पाये हैं। कविता के विषय में स्थानाभाव इस टिप्पणी में ज्यादा विचार विमर्श की इजाजत नहीं देता पर कथा साहित्य में ऐसे निराशावाद के उदाहरणों की कमी नहीं है। मुद्राराक्षस के बहुचर्चित उपन्यास 'दण्ड विधान' का अन्त जन-जागरण की भयानक पराजय से होता है। संजीव के 'धार' में कोयला क्षेत्र के सर्वहारा वर्ग की सारी चेष्टाएं जो सहकारिता के सहारे उन्हें आत्म निर्भर बनाना चाहती हैं, सत्ता के कुचक्रों से पराजित होती है। हाल ही में 'हंस' के दो अंकों में प्रकाशित उदयप्रकाश की सशक्त कहानी 'और अन्त में प्रार्थना का डॉ० वाकणकर अपनी सत्यनिष्ठा पर सन्नद्ध रहने के तनाव में मस्तिष्क के रक्तस्राव का शिकार बनता है और अन्त में हमें मृत्यु से संघर्ष करता हुआ मिलता है। वास्तव में भारतीय जीवन का यथार्थ आज सचमुच ही ऐसा है कि उसमें भावी युग निर्माण के शुभ संकेतों को खोजना एक दुरुह लेखकीय कर्म बन गया है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' का प्रमुख पात्र अन्ततः साम्यवादी पार्टी के ध्वज का सहारा लेता है। अखिलेश के ताजे उपन्यास 'अन्वेषण' का मुख्य पात्र अपने एक ऐसे साथी की तलाश करने लगता है जिसकी प्रत्यक्षतः सशस्त्र क्रान्ति में आस्था है। स्वयं मेरे

उपन्यास 'पहला पड़ाव' का दिग्भ्रमित नायक रास्ता पाने की सभी चालू पद्धतियों का प्रत्याख्यान करके समाज शास्त्र और राजनीति के गहन अध्ययन से रास्ता खोजने की उम्मीद करता है। स्पष्ट है कि ये सारे विकल्प अपर्याप्त हैं और अपर्याप्तता का बोध निराशा को और सघन बना देता है।

ये तो हुई यथार्थवादी लेखकों की दुविधाएं, पर वे जहाँ हैं वहाँ मार्ग की खोज में लगे रहना उनकी चिरन्तन नियति है। इसके विपरीत अज्ञेय, नरेश मेहता, निर्मल वर्मा जैसे साहित्यकार हैं जो सुपरिचित यथार्थपरक परिवेश में भी अपनी दुरुह चिन्तना से पाठक को कभी-कभी एक अस्पष्ट, अपरिचित रास्ते में पहुँचा देते हैं। उनके और साधारण पाठक के बीच एक दीवार सी है, वह ज्ञान और अज्ञान के बीच की नहीं, जनसाधारण के दैनन्दिन संकटों और सूक्ष्म दार्शनिकता की है, जो एक को दूसरे से काटती है। इसके विपरीत, प्रगतिशील और जनवादी लेखकों की दूसरी दुविधाओं में अब एक और दुविधा जुड़ गयी है। लेखकों का यह वर्ग यूरोप और रूस में समाजवाद और 'प्रोलेतेरियत' की प्रभुसत्ता के सपनों के बिखर जाने के बाद अपनी झटका खाई चेतना को पुनः संयोजित करने में लगा है।

इस झटके का शिकार सामाजिक याथार्थ की वह अवधारणा भी हुई है जो ऐतिहासिक अनिवार्यता के नाम पर एक सुनिर्दिष्ट सामाजिक विकास की प्रक्रिया में विश्वास करती है और बिना संशय के उस युटोपिया को मूर्तरूप देने के लिए साहित्य निर्माण में सक्रिय रही है। फलतः हमारे अधिकांश लेखकों के लिए यह खतरा हो गया है कि वे कहीं अपने को एक सैद्धान्तिक बन्द गली में भटकता हुआ न देखने लगें।

इससे निस्तार की दो ही सम्भावनाएं दीख पड़ती हैं। एक तो यह कि भारतीय रचनाकार विश्व स्तर की राजनीतिक उथल-पुथल और उससे साहित्यिक मान्यताओं पर पड़ने वाले प्रभाव का पचड़ा भुलाकर भारत की विशिष्ट स्थिति पर ही ध्यान केन्द्रित करें। माना कि उन्नीसवीं सदी के अन्त में यथार्थवाद की प्रतिक्रिया में आधुनिकतावादी अनेक धाराएं - प्रतीकवाद, विरूपता (ऐब्सर्डिज्म़) आदि पश्चिम में फली-फूलीं पर ये सब भरे पेट यूरोप और अमरीका को ही मुबारक। भारतीय समाज भुखमरी, बेरोजगारी, अशिक्षा, रोग, जनसंख्या विस्फोट, मूढ़ता, साम्प्रदायिकता आदि के पंक में आज भी घिसट रहा है और पश्चिम में साहित्य की उद्देश्यपरक मान्यताओं में जो भी बहस हो रही हो, यहाँ का साहित्यकार यहाँ की स्थिति को अनदेखा नहीं कर सकता। यूरोप में समाजवाद को जो भी झटके लगे हों, अपने समाज के संघर्षों से जुड़े हुए भारतीय साहित्यकार की जगह वही है, जहाँ वह अब तक था। उसकी नियति इस दैन्यपूर्ण समाज के सामूहिक संघर्ष से जुड़े रहने की ही है।

दूसरी सम्भावना जो बहुत धुंधली और अयथार्थ सी है यह है कि साहित्य और कला की दुनिया से बेखबर कोई ऐसी सामाजिक उथल-पुथल हो जो साम्प्रदायिकता, जातिवाद, गरीबी, अशिक्षा, भुखमरी आदि का दुश्चक्र तोड़कर समाज को एक तेजस्वी दिशा में ले जाने की आशा बंधाये। उस स्थिति में सामाजिक रूप से सचेत जो साहित्यिक प्रतिभाएं अपने को बंद गली में भटकता हुआ पा रही हैं, अचानक अपने को एक प्रशस्त और सुदीप्त मार्ग के मोड़ पर पायेंगी, पर फर्क यह होगा कि वहाँ साहित्य की भूमिका पलट चुकी होगी। जो अभी तक सामाजिक परिवर्तन का ध्वजवाही अगुवा होने का दावा करता था वह उन परिवर्तनों की प्रक्रिया का अनुचर नहीं तो स्वैच्छिक सहयात्री भर होगा। यह स्थिति भी अदृष्टपूर्व नहीं है। रूस की क्रांति के बाद अनेक समर्थ लेखकों की वहाँ यही स्थिति थी और हिन्दी में यही स्थिति अनेक साहित्यकारों की स्वतंत्रता आन्दोलन के दौर में रही है।

□□□

उर्दू की आखिरी किताब

— इब्ने इंशा

इब्ने इंशा पाकिस्तान के प्रख्यात व्यंग्यकार हैं। स्कूली पाठ्य पुस्तकों की शैली में लिखी गई उनकी उपर्युक्त पुस्तक पाकिस्तान में प्रतिबन्धित है। भले ही इस पुस्तक की पृष्ठभूमि पाकिस्तान हो लेकिन पाठको, आप ही फैसला कीजिये, क्या ये व्यंग्य अपने देश-समाज पर लागू नहीं होते ?

गैर अंग्रेजी राज के गुण

बहुत दिन पहले इस मुल्क में अंग्रेजों की हुकूमत होती थी और स्कूली किताबों में एक पाठ 'अंग्रेजी हुकूमत के गुण' शीर्षक से शामिल रहता था। उस जमाने में लोग अंग्रेजी हुकूमत की तारीफ करते थे क्योंकि इसके सिवा चारा न था। आज हम आजाद हैं। यहाँ हम अपनी हुकूमत की तारीफ करेंगे। इसकी वजह भी जाहिर है।

अंग्रेजों ने कुछ अच्छे काम भी किये। लेकिन उनके जमाने में खराबियाँ बहुत थीं। जो उनकी हुकूमत के खिलाफ बोलता था या लिखता था उसको जेल भेज देते थे। आजकल नहीं भेजते। घूसखोरी आम थी, आजकल नहीं है। दुकानदार चीजें महँगी बेचते थे और मिलावट भी करते थे। आजकल कोई महँगी नहीं बेचता और मिलावट भी नहीं करता। तब अमीर और जागीरदार ऐश करते थे। गरीबों को कोई पूछता भी नहीं था। आज अमीर लोग ऐश नहीं करते और गरीबों को हर कोई इतना पूछता है कि वे तंग आ जाते हैं। चौथाई सदी के छोटे से अरसे में हमारी साक्षरता अठारह प्रतिशत हो गयी है। विदेशी हुकूमत में भला ऐसा हो सकता था?

अंग्रेज शुरू-शुरू में हमारे दस्तकारों के अँगूठे काट देते थे। आज कारखानों के मालिक हमारे अपने लोग हैं, दस्तकारों के अँगूठे नहीं काटते। हाँ, कभी-कभी पूरे दस्तकार को काट देते हैं।

आजादी से पहले हिन्दू बनिये और सरमायादार हमें लूटा करते थे। हमारी ख़्वाहिश थी कि यह सिलसिला खत्म हो और हमें मुसलमान बनिये और सेठ लूटें। खुदा का शुक्र है कि यह आरजू पूरी हुई।

जब से हुकूमत हमारे हाथ में आई है, हमने हर क्षेत्र में बहुत तरक्की की है। आयात-निर्यात भी बहुत बढ़ गया है। हमारे उल्लेखनीय निर्यात दो हैं- यात्री और विदेशी मुद्रा। आयात हम घटाते जा रहे हैं। एक जमाने में तो विदेश नीति तक आयात करते थे। अब यहीं बनने लगी है।

ठगी का उन्मूलन कैसे हुआ

जिस जमाने का यह जिक्र है उस जमाने में ठगी बहुत हो गयी थी। ठग लोगों को राह चलते लूट लेते थे। आखिर सरकार ने ठगी उन्मूलन विभाग स्थापित किया। और यह कानून बनाया कि सारे कर्मचारी और अफसर लूट के माल में हिस्सा वसूल किया करें।

लोगों की हिचकिचाहट दूर करने और हौसला बढ़ाने के लिये प्रधानमंत्री ने खुद हिस्सा लेना शुरू कर दिया। ठगों ने जब यह देखा कि हमारे पास तो कुछ बचता ही नहीं, बल्कि पल्ले से भी देने की नौबत आ गयी है तो ठगी से तौबा की और धीरे-धीरे उसका पूरी तरह उन्मूलन हो गया।

इतिहास : स्पेस (खालीपन) युग

अब इस आखिरी दौर को देखिये।
पेट रोटी से खाली।
जेब पैसे से खाली।
बातें समझदारी से खाली।
वादे हकीकत से ख़ाली।
दिल दर्द से खाली।
दिमाग अक्ल से खाली।
शहर बुद्धिमानों से खाली।
जंगल पेड़ों से खाली।
हमारे यहाँ का खलाई दौर (अन्तरिक्ष युग) यही है।

हमारा मुल्क

"ईरान में कौन रहता है?"

"ईरान में ईरानी कौम रहती है।"

"इंगलिस्तान में कौन रहता है?"

"इंगलिस्तान में अंग्रेजी कौम रहती है।"

"फ्रांस में कौन रहता है?"

"फ्रांस में फ्रांसीसी कौम रहती है।"

"ये कौन-सा मुल्क है?"

"ये पाकिस्तान है।"

"इसमें पाकिस्तानी कौम रहती होगी?"

"नहीं, इसमें पाकिस्तानी कौम नहीं रहती है। इसमें सिन्धी कौम रहती है। इसमें पंजाबी कौम रहती है। इसमें बंगाली कौम रहती है। इसमें यह कौम रहती है। इसमें वह कौम रहती है।"

"लेकिन पंजाबी तो हिन्दुस्तान में भी रहते हैं। सिन्धी तो हिन्दुस्तान में भी रहते हैं। फिर ये अलग मुल्क क्यों बनाया था?"

"गल्ती हुई, माफ कर दीजिए, आइन्दा नहीं बनायेंगे।"

पानी

पानी कई तरह का होता है।

बारिश का पानी, नल का पानी, कोका कोला, ग्राइप वाटर, सेवेन अप, गोल्ड स्पॉट, आँख का पानी, चुल्लू भर पानी।

किसी जमाने में हमारे यहाँ हिन्दू पानी और मुसलमान पानी भी होता था। अब शायद नहीं होता।

पानी बड़े काम की चीज है। लेकिन इसमें एक खराबी है। यह अपनी सतह हमवार रखता है। जब हम स्कूल में पढ़ा करते थे तब भी हमें उस पर यही एतराज था। उसकी देखादेखी लोग सोचने लगे हैं कि इंसानों को भी अपनी सतह हमवार रखनी चाहिए। यह गलत बात है। पानी पानी है, इंसान इंसान है।

हमारे वैज्ञानिक आजकल बड़े-बड़े दस्तखतों से लम्बे-लम्बे बयान निकाल रहे हैं ताकि यह रुझान न फैले। उन्हें चाहिए कि पानी को समझाएँ कि मियाँ तू भी अपनी सतह ऊँची-नीची रखा कर। ऊँच-नीच में बड़े-बड़े फायदे हैं। सतह हमवार रखने से क्या हासिल? कुछ परम्परा की भी फिक्र है तुझे?

कभी-कभी तो इतनी बारिश होती है कि आदमी तो क्या सारा शहर पानी-पानी हो जाता है। सिवाय कारपोरेशन और व्यवस्था के। और कभी-कभी बारिश के बजाए कलन्दर की बात से भी ऐसा ही हो जाता है।

इल्म बड़ी दौलत है

इल्म बड़ी दौलत है।
तू भी स्कूल खोल।
इल्म पढ़ा।
फीस लगा।
दौलत कमा।
फीस ही फीस।
पढ़ाई के बीस।
बस के तीस।
यूनिफार्म के चालीस।
खेलों के अलग।
वैरायटी प्रोग्राम के अलग।
पिकनिक के अलग।
लोगों के चीखने पर न जा।
दौलत कमा।
उससे और स्कूल खोल।
उनसे और दौलत कमा।
कमाए जा, कमाए जा।
अभी तो तू जवान है।
यह सिलसिला जारी रहे।
जब तक गंगा-जमना है।
पढ़ाई बड़ी अच्छी है।
पढ़।
बहीखाता पढ़।
बैंक-एसेसमेंट पढ़।
जरूरते-रिश्ता के इश्तहार पढ़।
और कुछ मत पढ़।
मीर और गालिब मत पढ़।
इकबाल और फैज मत पढ़।
इब्ने इंशा को भी मत पढ़।
वरना तेरा बेड़ा पार न होगा।
और हममें से कोई
नतीजों का जिम्मेदार न होगा।

भैंस

भैंस दूध देती है लेकिन वह नाकाफी होता है। बाकी दूध दूधवाला देता है और दोनों के परस्पर सहयोग से हम शहरियों का काम चलता है। सहयोग अच्छी चीज है लेकिन दूध को छान लेना चाहिए ताकि उसमें से मेंढक बाहर निकल जायें।

आदमी

दूध देने वाले जानवरों में पालने के लिए सबसे अच्छा यही है। नौकरी करता है, दुकान करता है, तनख्वाह लाता है, बच्चे खिलाता है, उन्हें पीठ पर बिठाता है, अजीब शक्लें बना-बनाकर हँसाता है, बहलाता है।

अपनी मादा की खिदमत में जितनी दौड़ - धूप यह करता है, कोई और जानवर नहीं करता। इसीलिए तो इसके सींग गायब हो गए हैं, खुर घिस गए हैं, और दुम झड़ गई है।

इस जानवर का पालना और साधन सबसे आसान है। इसे तोते की तरह बोलना भी सिखा सकते हैं। एक आसानी यह भी है कि घर में इसके लिए अलग थान या पिंजरा बनाने या जंजीर डालने की जरूरत नहीं होती। जिस कमरे में चाहे सुला दो, भागता नहीं।

प्यासा कौवा

एक प्यासे कौवे को एक जगह पानी का मटका पड़ा नजर आया। बेहद खुश हुआ। लेकिन यह देखकर मायूसी हुई कि पानी बहुत नीचे-सिर्फ मटके की तह में - थोड़ा सा है। अब सवाल यह था कि पानी को किस तरह ऊपर लाए और अपनी चोंच तर करे।

इत्तिफाक से उसने लुकमान की किताब पढ़ रखी थी। पास ही बहुत के कंकर पड़े थे, उसने एक-एक कंकर उसमें डालना शुरू किया। कंकर डालते-डालते सुबह से शाम हो गई। प्यासा तो था ही, निढाल हो गया।

मटके के अन्दर नजर डाली तो क्या देखता है कि कंकर ही कंकर हैं, सारा पानी कंकरों ने पी लिया है। बरबस उसकी जबान से निकला- "हत् तेरे लुकमान की'।

फिर बेसुध होकर जमीन पर गिर गया और मर गया।

□□□

परिवर्तन (?) की चाह

– शुभेन्द्र सिंह परिहार

परिवर्तन की चाह ने कर दिया है खोखला
है तुम्हारी खोपड़ी मात्र रह गयी 'ओखला'
विलुप्त होती जा रही विचार शक्ति
स्वार्थी पुलिंदे में बँध गयी राष्ट्र भक्ति
धीरे-धीरे हम गुलामी की ओर बढ़ रहे
पाँव डाले आग में औरों पर कुढ़ रहे
उदारीकरण के नाम पर
किया जा रहा है दोहन
निर्यात में गोमांस, आयात में गोबर,
फिर भी नाम 'मनमोहन'
भ्रष्टाचार के साथ ही हो गया आचारोन्मूलन
आदर्श युवा पीढ़ी की बन गयी 'सुन्दरी' फूलन
रक्षा के नाम पर हो रहे बोफोर्स सौदे
शिक्षा के लिये तैयार होते बस मसौदे
अर्थ की इस दौड़ में हाय क्या हम कर रहे
धान अपने उन्हें सौंप भूसी बखार में भर रहे
अन्याय के आगे जो भी अड़ रहा
उससे सीधे मुख्यमंत्री लड़ रहा
गलियारे सत्ता के कीचड़ से सड़े
बेदाग दामन बस मर्तबानों में पड़े
आधुनीकरण के शस्त्र से हुई संस्कृति हत्या
दुर्वासा औंधे मुँह पड़े खिलखिलाती कृत्या
क्या यही परिवर्तन है?
नहीं! यह आत्म हनन है।

□□□

कोई मुझसे पॉलिटिक्स में भिड़ावे...

– पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

रसिक, निर्भीक और मुँहफट लेखनी के धनी उग्र जी का यह संस्मरण उनकी आत्मकथा 'अपनी खबर' से लिया गया है।

सो, तुम जीते कमला, और बहुत खूब जीते। अभी गत कल ही की तो बात है। तुम प्रादेशिक साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष बने थे (सन् १९४८-४९)। उन्हीं दिनों लखनऊ में मैं भी मोहक मिनिस्टर श्री केशवदेव मालवीय का मेहमान था। अतः, सहज ही, उस जलसे में हाजिर था जिसके तुम जनाबेसद्र थे। पहले दिन की कार्रवाई खत्म होने के बाद ही मंच से दर्शकों के बीच में आने पर मुझे पहचान तुमने मेरे कन्धे पर परिचित हाथ रखा था और परिचित ही अदा में - मैंने गुजारिश की थी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष से कि आगामी कल के जलसे में मुझे भी चन्द अल्फाज़ बोलने की इजाजत दें। लेकिन तुमने तद्दन ना कर दिया थाः "तुम न जाने क्या बोलो - मैं तुम्हें बोलने नहीं दूँगा।" तब तुम मिनिस्टर नहीं - महज एम.एल.ए. थे, लेकिन तब भी तपना तुमने प्रायः मिनिस्टरों की तरह ही शुरू कर दिया था। मैं रहता था मिर्जापुर, तथा 'मतवाला' वाले महादेव प्रसाद सेठ के योग्य-पुत्र के करते फिर से प्रकाशित 'मतवाला' का सम्पादक था। दूसरे दिन तुमने सभा में मुझे बोलने नहीं दिया था। पाँचवें दिन अपने पेपर में मैंने तुम्हारे दर्शन की, भाषण की, हिन्दी साहित्यिक-आसन पर से पॉलिटीशियन मुख्यमंत्री पन्त के पद पल्लव पकड़ने के आचरण की भर्त्सना की थी- जरा भी अपनत्व दिखाये बगैर। इसके बाद मिर्जापुर से बनारस जाने पर, जान-बूझ कर, तुम्हारी प्रतिक्रिया ताड़ने के लिए मैं तुम्हारे घर गया था। दरबार तुम्हारा भरा था, मैंने देखा। मुझे देखते ही चेहरे पर अहंकार तुम्हारा उभरा था। मेरी तरफ से दीठ हटा, पीठ दिखाते तीव्र-तिरस्कार से तुमने कहा था : "कोई मुझसे पॉलिटिक्स में भिड़ावे (फिर देखे...)।" उस समय मैंने नहीं समझा कि तुम्हारे इस पॉलिटिक्स-परिज्ञान अहंकार के पीछे इतना कूट-प्रभुत्वपूर्ण 'पॉवर' था। तुम सिंचाई मंत्री बन गये जब तब भी मैंने अहंकार योग्य कोई खुसूसियत तुममें नहीं देखी थी। लेकिन जब काल ने तुम्हारे पक्ष में 'किक' मार सी.बी.गुप्त को पाताल पठाया और सम्पूर्णानन्द को प्रान्तीय प्रभुत्व के आकाश की तरफ उछाला तब जैसे रातों रात तुम्हारा साइज़ यू.पी. के पाताल से (नक्षत्र-ग्रह-चन्द्रार्क-मण्डित) आकाश तक विराट हो गया था। तुम्हारा यह विराट रूप मुझे बहुत ही भाया। जीवन में जीवट से डटने की क्षमता, बल, 'पावर' मुझे बहुत ही सुहाते हैं। मैंने कहा, 'भातें हैं' 'सुहाते हैं'। 'लुभाते' ये मुझे उतना नहीं। देखो तो, जब से तुम 'पॉवर' में हो मेरी तुम्हारी भेंट तक नहीं। लखनऊ तो दूर मैं बनारस भी नहीं गया, मिर्जापुर नहीं गया। तब से जब से तुम वैसे शक्तिशाली बने जिसकी कल्पना तक मैं न कर पा सका था। वैसे ही ठीक वैसे ही कमला जैसे अलिफ लैला के दीन अलादीन को अपने ही हाथ के चिराग में प्रचण्ड शक्तिशाली 'जिन' के होने की कल्पना तक नहीं थी। विश्वास रखो, मैं तुम पर एक अक्षर भी न लिखता- यह सब तो अपना अहंकार प्रकट करने के लिए लिखा है- खासकर प्रान्त के उन साहित्यिकों, कलम-बाजों, आचार्यों, तथाकथित प्रतिभाशालियों पर जो आज तुम्हारे प्रसाद से प्रसादीलाल बने हुए हैं। मेरा दावा है आज यू.पी. के जो भी तुम्हारे सामने झुककर सम्पूर्णानन्दित हैं वे सभी मेरे सामने भी सरासर झुके हुए हैं। याद तो करो सन् १९२१ ई० की घटना। गाँधीजी काशी आये हुए थे और टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज के दुमंजिले पर हिन्दू विश्वविद्यालय के एक-से-एक विवेकी आचार्य को असहयोग का प्रोग्राम सुतर्कित रीति से समझा रहे थे। और तुम थे। और मैं था। हमने तय किया

कि महात्मा जी जब गोष्ठी वाले कमरे के बाहर निकलें तब अचानक लपककर पावन चरण-स्पर्श किया जाये। और हम कर गुजरे लड़कपन। बड़े-बड़ों के आगे-आगे आते गाँधी जी के गतिवान चरण एक ओर से तुमने और एक ओर से मैंने पकड़ ही लिये थे। गाँधी जी चमक कर शान्त रह गये थे। मुझे याद है- मेरे हाथ में उनका दाहिना चरण आया था और तुम्हारे हाथ बायाँ। युगपुरुष के वामपद की विभूति अगर वही है जिससे तुम मण्डित हो कमलापति पण्डित! तब महात्मा के दक्षिण पद की विभूति में क्या होगा उसकी कल्पना की अनुभूति भी ब्रह्मपद-प्रसूति मालूम पड़ती है। महात्मा पद-रज-ग्रहण के चन्द ही दिनों बाद इस बात पर मेरी-तुम्हारी शर्त लगी थी पाँच-पाँच रुपये की कि आगे जेल कौन जाता है। जेल तुम भी गये, लेकिन मैं तुमसे पहले पहुँचा था। और हम दोनों एक ही भाव में, एक ही बैरक में, एक ही 'झिरी' में, एक ही जेल में सन् उन्नीस सौ बीस और एक में थे। उसी जेल में उसी समय कृपलानी जी, सम्पूर्णानन्द जी और सारी यू०पी० के कई सौ पॉलिटिकल बन्दी भी थे। आज यह सब मैं इसलिए लिखता हूँ कि तुममें जो श्रेष्ठ है, तेजस्वी है, उसमें मैं हूँ। भले मैं ही न होऊँ तुम्हारे पूज्यपिता परम पण्डित थे; तुम्हारे भारत-विख्यात नानाजी परम पण्डित थे। लेकिन जेल तो मैं ही तुम्हें ले गया, अखबार-नवीसी की तरफ तो मैं ही तुम्हें ले गया। मतलब महज यह कि तुम्हारे शुभ में मेरा अनुराग आज भी है और अशुभ में भगवान् न करें किसी का अनुराग हो। हरिश्चन्द्र ने कहा- कोई हमसे सत्य में भिड़ाये, रामचन्द्र ने कहा, कोई हमसे मर्यादा में भिड़ाये, गौतमबुद्ध ने कहा, कोई मुझसे करुणा में भिड़ाये, लेकिन कमलापति पण्डित ने पलटा लेकर कहा, कोई हमसे पॉलिटिक्स में भिड़ाये। तो कमला ! इस पॉलिटिक्स में तुम्हारे सत्य, मर्यादा और करुणा तो होगी ही? या मॉडर्न पॉलिटिक्स उक्त गुणों से विरहित होता है? भाई रे, दोहाई है, इतना बड़ा हो गया चुनार का पँडवा, पर, पूछो तो पॉलिटिक्स का 'प' भी लिखना मुझे नहीं आता। जब तुम कृषि या सिंचाई मंत्री बने थे, मैं संयोग से लखनऊ में था। तुम्हारे यहाँ गया तो तुम अन्दर थे; बाहर दरबार लगा था। तुम बाहर आये तो स्व० परमहंस राघवदास ने तुम्हें सुनाया था कि उग्र जी कह रहे थे कि काम अभी छोटे भाई कर रहे हैं, बड़े भाई का नम्बर बाद में आयेगा। शायद परमहंस जी का कथन तुम्हें सुहाया नहीं था। मैं दूसरे दिन गया तो तुम तखलिये में सुलभ हुए थे। इसके बाद मैं उत्तर प्रदेश के बाहर-ही-बाहर रहा। अक्सर पत्रों में पढ़ता तुम्हारे बारे में। कमाल मेरे भाई! तुमने करके दिखा दिया! लेकिन किसको दिखलाया? बेचन को? परिवारियों को? रिश्तेदारों को? बनारस वालों को? या प्रदेश की भूखी, दुखी जनता को? काफी दिनों तक तुम शक्तिशाली रहे। इस अरसे में जनता का हित कितना हुआ? मैं नहीं जानता। मैं लखनऊ से काफी दूर रहता हूँ। लेकिन इसी के उत्तर में तुम्हारा भविष्य है, यह मैं जानता हूँ। मालूम नहीं कमला कि आज तुम भले हो या बुरे। बुरे हो तो बुरा नहीं। चारों ओर ही बुरे-ही-बुरे हैं, परन्तु यदि भले हो तुम मेरी जान! तो आज बहुत ही भले लगोगे, क्योंकि भले लोग नजर आ नहीं रहे हैं।

□□□

नारी की नियति ?

– स्मिता सक्सेना

क्या यही है मेरी नियति
कि हरदम रहूँ कुछ न कुछ सहती
सिर्फ इसलिये कि मैं हूँ नारी
मेरे लिये ही वर्जनाएँ सारी
जब - जब कुछ करने का मन बनाया
सबने समाज का डर दिखाया
क्या समाज सिर्फ भय है नारी के लिये
और स्वच्छन्द बस पुरुषों के लिए
क्या पुरुष ही हैं समाज के ठेकेदार
बने खुदबखुद नारी के पहरेदार
क्या उनके ही सारे अधिकार
नारी सहे बस उनके प्रहार
क्योंकि अबला ही तो है नारी
उनके हित सदा रहेगी बेचारी

स्वार्थपरक राजनीति और धर्मान्ध कट्टरता से परे

बीच की एक राह

—निर्मल वर्मा

धर्म हमें जिस अनुभव लोक से जोड़ता है, वह इतना धुंधला और अस्पष्ट है कि उसे सही-सीधे शब्दों में परिभाषित करना आसान नहीं है। कविता और कला की तरह वह मनुष्य की एक ऐसी अदम्य और आदिम लालसा से उद्‌भूत होता है जिसका लक्ष्य उन सब सीमाओं के परे जाना है, जो मनुष्य को किसी एक लगी - बंधी अवधारणा में बांधने का प्रयास करती हैं। प्राचीनकाल से आज तक मनुष्य को परिभाषित करने वाली जितनी अवधारणाएं सामने आयी हैं - मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, राजनीतिक जन्तु है, आर्थिक जीव है इत्यादि - धर्म की प्राणवत्ता इन सब परिभाषाओं के चौखटे तोड़कर ऐसे अनूठे अनुभव में प्रवाहित होती रही है, जो अपने में विशिष्ट होता हुआ भी केवल विशिष्ट व्यक्तियों तक सीमित नहीं रहता। उसे हर वह आदमी महसूस करता है जो इस धरती पर अपने जीने का अर्थ और मृत्यु का रहस्य जानना चाहता है।

संगतिपूर्ण अर्थवत्ता में ढालने का जीवंत प्रयोग

यहाँ मैं धर्म के उस पक्ष की बात कर रहा हूँ जो मनुष्य के सीमित, खंडित, अधूरे अस्तित्व को किसी परम सम्पूर्ण मानवेतर अर्थ से जोड़ने की प्रक्रिया में उजागर होता है। बोलचाल की चालू भाषा में हम यद्यपि इसे मनुष्य का 'आध्यात्मिक पक्ष' मानते हैं, किन्तु यह मनुष्य अनुभव का सिर्फ एक पक्ष या पहलू नहीं, वह उसके समग्र जीवन तंत्र को प्रभावित करता है। वह मनुष्य के समस्त व्यावहारिक कार्य कलापों को एक संगतिपूर्ण अर्थवत्ता में ढालने का जीवंत प्रयोग है। आज के वैज्ञानिक सेक्युलर युग में इस बात पर जोर डालना और भी जरूरी है, क्योंकि ज्यों ही हम मनुष्य के आत्म और परम के गहन अंतर्सम्बंध को एक अलग आध्यात्मिक खाँचे में डाल देते हैं, त्यों ही मनुष्य के आत्म और अन्य के लौकिक, व्यावहारिक रिश्ते को भी विकृत और विदूषित कर देते हैं। इसकी तार्किक परिणति यह होती है कि मनुष्य का लौकिक जीवन, जिसमें राजनीति भी शामिल है, अपना वह नैतिक विवेक खो देती है, जो उसे अपनी अंदरूनी अंतर्चेतना से प्राप्त होता है और उसका आध्यात्मिक जीवन इसलिए विपन्न और निर्जीव हो जाता है, क्योंकि वह अपने को लौकिक, व्यावसायिक जीवन की जड़ों से काट लेता है। यह उल्लेखनीय है कि ईसा, बुद्ध, गांधी जैसे लोग अपने समय की समाज व्यवस्था और राजनीति में इसलिये इतना सार्थक और स्मरणीय हस्तक्षेप कर सके, क्योंकि उनके भीतर धर्म और समाज, आत्म और अन्य के बीच वाला वह कृत्रिम विभाजन नहीं था, जिसकी माँग आज हमसे धर्मनिरपेक्षता या सेक्युलरिज़्म के नाम पर की जाती है।

जब किसी ने गांधी जी से राजनीति और धर्म के संबंध के बारे में प्रश्न किया था, तो उत्तर में उन्होंने कहा था, 'जो राजनीति को धर्म से अलग करके देखते हैं, वे न तो राजनीति का अर्थ समझते हैं न धर्म का।'

जाहिर है, यहाँ गांधी जी के लिए धर्म का वह आशय नहीं है जो हमारे सेक्युलर, धर्मनिरपेक्षी राजनेताओं और बुद्धिजीवियों के लिए है। यहाँ धर्म सिर्फ व्यक्ति के उन मताग्रहों का पुंजमात्र नहीं है जिसे अपनी वैधता किसी चर्च, किसी प्रतिष्ठान, किसी पुस्तक (कुरान या बाइबिल) से प्राप्त होती है। वह एक आइडियोलॉजी नहीं है। वह शताब्दियों से अर्जित अनुभवों से निचोड़ा हुआ आत्मबोध है, जिसकी कसौटी पर हम झूठ को सच से, न्याय को अन्याय से, सत्व को तमस से अलग करने का प्रयास करते हैं। प्रयास ही करते हैं, जरूरी नहीं, सफल भी हों। इस बीहड़ रास्ते में हम बार-बार धोखा खाते हैं, मरीचिकाओं के पीछे भागते हैं, उद्‌भ्रान्त होते हैं। इसका सजीव उदाहरण महाभारत का महाकाव्य है - एक अनूठा धर्मग्रंथ जहाँ अधर्म के अंधेरे से गुजर कर ही कभी-कभार धर्म के दर्शन हो पाते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन सब आत्म-भ्रान्तियों के बावजूद हर व्यक्ति में, वह राजा हो या रंक, यह विश्वास अटल रहता है कि उसके हर कर्म की निर्णायक एक ऐसी सत्ता है, जिसकी अवहेलना करते ही उसका अपना अस्तित्व, अपने जीवन की अर्थवत्ता, एक शब्द में कहें तो

उसका अपना धर्म, संकट में पड़ जाता है।

यही वह भाव - बोध है, जिसमें मनुष्य की अंतश्चेतना, उसकी कॉन्शेंस, उसकी अंतरात्मा वास करती है। मनुष्य का मजहब, रिलीजन, विश्वास तंत्र, कुछ भी क्यों न हो, वह एक पतली डोर से इस भाव - बोध, इस अन्तश्चेतना के साथ जुड़ा रहता है। इस डोर का एक सिरा मनुष्य के आत्म के साथ जुड़ा है, दूसरा उसके दुनियावी लोक के साथ। इन दो सिरों के बीच फैले तन्तुजाल में मनुष्य के लोक-परलोक, उसकी लौकिक मर्यादाएं और अलौकिक आस्थाएं, उसका धर्म-कर्म, उसका नैतिक विवेक, मन, राज्य, समुदाय के साथ उसके संबंध अंतर्निहित होते हैं। जब हम मनुष्य के धर्म को उसकी राजनीति से अलग करने की बात करते हैं, तो वस्तुतः हम इस डोर को ही काट डालते हैं, जिसका घातक परिणाम यह होता है कि एक छोर पर उसका आत्म नीतिशून्य हो जाता है और दूसरे छोर पर उसकी राजनीति आत्म शून्य। कहना न होगा, यूरोप में सेक्युलरिज़्म जिसे हम धर्मनिरपेक्षता कहते हैं, मनुष्य के भीतर हुए इस आत्म विभाजन की उपज है। यूरोप की देखा-देखी इस अवधारणा को अपने देश में आयातित करना उस मानसिक गुलामी का दुःखद परिणाम है, जो अंग्रेजों के जाने के बाद भी हमारे भीतर ज्यों की त्यों कायम है।

५० वर्षों का अनुभव क्या बताता है?

देखा जाए तो पिछले १०-२० वर्षों से हम धर्मनिरपेक्ष समाज में रह रहे हैं। उसके क्या परिणाम हुए हैं? हमारी शिक्षण संस्थाओं, स्कूलों, कॉलेजों में धर्म शिक्षा के लिए कोई स्थान नहीं है, जिसके कारण एक ही कक्षा में पढ़ने वाले हमारे हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई छात्र एक दूसरे के धर्म - विश्वासों, अनुष्ठानों, पर्वों के प्रति कोई जानकारी, कोई ज्ञान, कोई जिज्ञासा नहीं रखते। हम बहुत अभिमान और गर्व से भारतीय समाज को बहुधर्मी और विविध दृष्टियों से सम्पन्न समाज कहते आये हैं लेकिन असली हालत यह है कि जिन क्लासिक भाषाओं के ज्ञान से हम एक दूसरे की दृष्टि, दर्शन, धर्म की कोई अंतर्दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं - संस्कृत, फारसी, अरबी भाषाएं वे आज अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व तले न केवल घोर उपेक्षित हैं, बल्कि उन्हें सीखने जानने के जो हमारे परम्परागत शिक्षा संस्थान, पुस्तकालय, अध्ययन केन्द्र बचे थे, वे भी धीरे-धीरे नष्ट हो रहे हैं। कितनी विचित्र विडम्बना है कि अमरीका के विश्वविद्यालयों में विश्व के विभिन्न धर्मों के शिक्षा केन्द्र मौजूद हैं, जहाँ हिन्दू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म और इस्लाम धर्म की शिक्षा दी जाती है, जबकि स्वयं इन धर्मों के लाखों अनुयायियों के जन्मस्थल भारत व वहाँ के बहुवर्गीय समाज में इस तरह के शिक्षा केन्द्रों के लिए कोई स्थान नहीं है। इस संदर्भ में हाल ही में दिया गया मानव संसाधन विकास मंत्री श्री अर्जुन सिंह का वक्तव्य कि हमारे स्कूलों - कॉलेजों में किसी भी धर्म की शिक्षा नहीं दी जाएगी, मंत्री महोदय की उस धर्मनिरपेक्षीय नीति को उजागर करता है जो आज हमें अज्ञान के उस अंधेरे गड्ढे में खींच लाई है, जिसमें आज हम जीते हैं। यह इसका भी सजीव उदाहरण है कि धर्म को राजनीति से अलग करने वाले हमारे प्रवक्ता हर मौके पर अपनी सुविधा - स्वार्थ के लिए धर्म के हर क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकते हैं, किन्तु वह हमारी धर्म परम्परा को इतना क्षीण, निस्तेज और निर्जीव जरूर कर देना चाहते हैं कि वह राजनीति पर किसी तरह का कोई नैतिक अंकुश लागू न कर सके। हमने ऊपर अज्ञान के अंधेरे की बात की थी। हमारे समाज में बढ़ती साम्प्रदायिकता इसी अंधेरे की उपज है। जब मनुष्य को ताजा पानी पीने को नहीं मिलता तो उसे बरबस अपनी प्यास गंदले पानी से बुझानी पड़ती है। धर्म को समाज से निष्कासित करने के बाद जो आत्म शून्यता फैलती है, उसमें अनेक बीमारियों के बीज - वह चाहे भौतिक लोलुपता हो, वैचारिक कट्टरता हो, उपभोगी मनोवृत्ति हो - मौजूद रहते हैं। साम्प्रदायिकता इस बीमारी का लक्षण भी है तो आत्म शून्यता को भरने का साधन भी। धर्म नहीं है, इसलिए धर्म के छद्म वेश में वह हमें छलती है, कुछ इसी तरह जैसे एक समय में न्याय और समता का वेश धारण करके साम्यवाद हमारे बुद्धिजीवियों को भ्रमित करता था। यदि इन्हीं बुद्धिजीवियों और सेक्युलर राजनीतिज्ञों को आज धर्मनिरपेक्षता का नारा आकर्षित करता है, तो इसलिए कि वह धर्म के स्खलित (विद्रूप कहें तो बेहतर है) रूप को तो देखते हैं, जो साम्प्रदायिकता में प्रकट होता है, उसके आत्यन्तिक सत्य को नहीं, जिसे हमने देश निकाला दे रखा है। अंग्रेजी में एक कहावत है, बच्चे को जिस पानी में नहलाया गया, नहलाने के बाद उसी गंदले पानी के साथ ही फेंक दिया गया। हमारी हालत इससे भी बदतर है। हमने धर्म को तो छोड़ दिया पर गंदले पानी को बचा लिया, जिससे साम्प्रदायिकता का जन्म होता है। हमारी राजनीति का संबंध इस गंदले पानी से है जो धर्म के नाम से बचा रह गया है, उस सत्य से नहीं जिसे धर्मनिरपेक्षता के नाम पर

फेंक दिया गया है।

भारतीय जीवन में रचा-बसा एक सत्य

यह सत्य कोई हवाई, अमूर्त, आध्यात्मिकता की धुंध में लिपटा सत्य नहीं है। यह हाड़-मांस की तरह ठोस है और हर भारतीय के जीवन में मेंहदी की तरह रचा बसा है। यह सत्य किसी थियोक्रेटिक राज्य के संकीर्ण मताग्रहों में चुक कर समाप्त नहीं हो जाता, उससे कहीं अधिक वृहत्तर और विशाल है। यह वही सत्य है जिसने भारतीय जनता को देश विभाजन की विभीषिका के बावजूद इस प्रलोभन से बचाए रखा कि वह पाकिस्तान की देखा-देखी अपने को हिन्दू राष्ट्र घोषित कर दे। यदि भारत ने पाकिस्तान की धार्मिक संकीर्णता के तर्क को अस्वीकार किया तो यह कोई सेक्युलरिज्म की विजय नहीं थी जो वैसे भी एक सर्वसाधारण भारतीय के लिए एक परायी, विदेशी और आयातित अवधारणा रही है, बल्कि इसका श्रेय उस सांस्कृतिक मनीषा को जाता है जिसे राष्ट्रीय आंदोलन के कठिन वर्षों में विवेकानन्द, श्री अरविन्द, रमण महर्षि और गांधी जैसे व्यक्तियों ने अपने चिन्तन, दर्शन और जीवन कर्म से परिपोषित किया था। हमारी राजनीति का दुर्भाग्य यह नहीं है कि वह पर्याप्त मात्रा में धर्मनिरपेक्ष नहीं है, उसका दुर्भाग्य और हमारे अधोपतन का कारण यह है कि उसने पर्याप्त मात्रा में हमारी इस अपूर्व धार्मिक और सांस्कृतिक सम्पदा का उपयोग नहीं किया, जो ये मनीषी हमारे लिए छोड़ गए थे। शायद ही किसी देश को ऐसी बहुमूल्य सम्पदा विरासत में मिली हो जो हमें स्वतंत्र होते समय प्राप्त हुई थी। शायद ही किसी देश के राजनेताओं और प्रगतिशील बुद्धिजीवियों ने उसे इतनी बेदर्दी, रुखाई और मूढ़ता से बर्बाद किया हो, जितना हमारे देश के। आज प्रश्न राजनीति को धर्म से अलग करने का नहीं है जिसके परिणाम हम भुगत रहे हैं। आज प्रश्न उस धार्मिक सम्पदा को दुबारा से अपने जीवन में पुनर्प्रतिष्ठित करने का है, जिसके अभाव में हमारी राजनीति इतनी विवेक शून्य और हमारी धार्मिक संवेदना इतनी खोखली हो गयी है। क्या हममें इतना नैतिक साहस है कि स्वार्थपरक राजनीति और धर्मान्ध कट्टरता के बीच इस रास्ते को चुन सकें, जिसे हम आज तक अनदेखा करते आये हैं?

(राष्ट्रीय सहारा, १५ अगस्त १९९३)

□□□

मैं प्रभात में प्रभा खोजता...

— प्रवीण अग्रवाल

मैं प्रभात में प्रभा खोजता,
बैठा था मन मारे
सोच रहा था जाने कब से,
हम सब क्यों बेचारे
शान्तिदूत के अंग-अंग से
बू आती बारूदी
श्वेत कपोतों की उड़ते ही
पाँख हुई क्यों ऊदी
पृथ्वीराज मढ़े थे जिसमें,
फ्रेम हुआ जयचन्दी
भारत माता जिन्हें विमाता,
उनकी आज बुलन्दी
सत्ता सुख की खींच - तान में
कलियाँ कुचली जातीं
अट्टहास करता सिंहासन,
ममता मसली जाती
नौजवान बदनाम हो गया,
शक्ति हुई भिखमंगी
हाय ! जगत के स्वाभिमान की,
मर्यादा है नंगी
कैसे कहूँ कहाँ तक रोऊँ,
चारों ओर अँधेरा
आज प्रभा के बीच कर रहा,
काला कलुष बसेरा।

□□□

समय का तकाजा है समान नागरिक संहिता

— विनोद सुरोलिया

कोई ऐसा देश है जहाँ औरतों के एक वर्ग विशेष के लिए तलाक लेने का कानून है मगर उसी वर्ग के मर्दों के लिए नहीं है? इस प्रश्न पहेली का उत्तर है भारत। संविधान सभा ने भारतीय संविधान के अनुच्छेद ४४ के अन्तर्गत सभी नागरिकों के लिए समान संहिता को सार्थक रूप देने का जो दायित्व भारत सरकार को सौंपा था, उसे चार दशक के अन्तराल के पश्चात् भी पूरा नहीं किया जा सका। संविधान बनाने के बाद हर आने वाली सरकार अल्पसंख्यकों के वोटों पर एकाधिकार की लिप्सा के कारण देश में प्रशासन के लिए अपने आधारभूत कर्तव्यों से आँखें मूंदती रही। अंग्रेजों ने अपने राजनीतिक स्वार्थों के कारण जिन निजी कानूनों को प्रश्रय दिया उनके ताबूत को हम स्वतंत्रता के पश्चात् भी मजबूती से ढोते रहे।

यह खेद का विषय है कि दशक के बाद दशक व्यतीत होते चले गए परन्तु राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव के कारण संविधान की धारा ४४ एक मृतक वर्णमाला बन कर रह गयी। भारत सरकार का मूलभूत कर्तव्य था कि सम्पूर्ण भू क्षेत्र के नागरिकों के लिए एक समान संहिता के निर्माण के सक्रिय प्रयास करती, परन्तु इस दिशा में किंचित् भी सरकारी गतिविधि दिखाई नहीं दी।

देश के नागरिकों के लिए एक समान संहिता बनाने का कर्तव्य संविधान में सरकार के लिए ही निर्धारित है और उसमें इसके लिए वैधानिक क्षमता भी है जिसमें वह पूर्ण रूप से विफल सिद्ध हुई है। एकसमान संहिता के अभाव की खाइयों को पाटने का प्रयत्न कर रहे हैं न्यायालयों के छुटमुट निर्णय। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधिपति चन्द्रचूड़, डी.ए. देसाई, ई.एस. वेंकटरमन, डी. चिनप्पा रेड्डी तथा रंगनाथ मिश्रा की संवैधानिक पीठ ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा के भरण पोषण प्रावधान में सामाजिक न्याय तथा मानवीय मूल्यों का समावेश कर संविधान निर्माताओं की पवित्र इच्छा की तरफ सरकार का ध्यान आकर्षित किया तो अल्पसंख्यक वर्ग का कट्टरपंथी समुदाय निर्णय के विरुद्ध सारे हथियार लेकर खड़ा हो गया। मुस्लिम समाज में एक बनावटी भय के भूकम्प से भयातुर होकर केन्द्र ने बिना सोचे विचारे शरीयत की रक्षा के नाम पर मुस्लिम महिला (तलाक अधिकार रक्षण) विधेयक, १९८६ पारित करके न्यायालय की आशा पर तुषारापात कर दिया। यह भी नहीं सोचा गया कि यह विधेयक संविधान की प्रस्तावना के भी विरुद्ध है, जिससे हम धर्मनिरपेक्ष होने का दावा करते हैं। समान नागरिक संहिता के प्रश्न को लेकर मूलभूत अधिकार उपसमिति में डा० बी.आर. अम्बेडकर, राजकुमारी अमृत कौर, एम.आर. मसानी तथा हंसा मेहता ने समिति के बहुमत के फैसले के विरुद्ध अपनी विशेष टिप्पणी दर्ज कराई थी कि 'भारत को राष्ट्रीयता के पथ पर अग्रसर होने में एक रुकावट धर्म पर आधारित व्यक्तिगत कानूनों का अस्तित्व भी रहा है, जिसने राष्ट्र को जीवन के अनेक प्रश्नों में, सीलबंद कमरों में विभाजित करके रखा है। हमारा मत है कि भारतीय जनता के लिए एकसमान नागरिक संहिता बनाने हेतु पाँच अथवा दस साल की गारन्टी होनी चाहिए।'

समान नागरिक संहिता का विरोध करने वालों का प्रधान तर्क यह है कि अपने निजी कानूनों का पालन किसी भी वर्ग या समाज के मूलभूत अधिकारों में से एक है। लोगों के विशिष्ट निजी कानूनों में हस्तक्षेप का अर्थ उन तौर तरीकों में हस्तक्षेप करना होगा, जिनका पालन वे युगों से करते आए हैं। निजी कानूनों को लागू करने का विचार नया नहीं है। अंग्रेजों ने पंजीकरण अधिनियम तथा शारदा अधिनियम बनाया परन्तु नागरिकों के मूलभूत निजी कानूनों में कभी दखल नहीं दिया, क्योंकि वे पूरी तरह से धर्म पर आधारित थे। अपने निजी कानून लोगों को अत्यन्त प्रिय होते हैं। यह एक ऐसा रहस्य है जिसका सम्मान हर प्रशासन और न्याय प्रशासन करता है। युगोस्लाविया में सर्ब, क्रोट और स्लोव राज्य के मुसलमानों के निजी कानून उनकी पारिवारिक परम्पराओं के अनुसार नियंत्रित होते हैं।

समान नागरिक संहिता का विरोध करने वाले अल्पसंख्यकों की भावना का प्रतिनिधित्व नहीं करते बल्कि धर्मनिरपेक्षता की आड़ लेकर अपने ही समाज के दुर्बल अंग

को दबा कर असहाय बनाये रखना चाहते हैं। व्यक्तिगत कानूनों के विरोध में आवाज उनकी तरफ से नहीं आ रही है जो उस समाज में पचास फीसदी है, न ही उस समाज के नौजवान तबके की ओर से की जा रही है जो अपनी माताओं और बहनों की आजीवन यातनाओं को समाप्त करने में जुटे हुए हैं और न ही उन सुखी विवाहितों की तरफ से गुंजरित हो रही है जो कम से कम अपनी उन अभागिन बहनों के साथ सहानुभूति रखती है जिन्हें दो जून के खाने का प्रबन्ध किये बिना निष्कासित करके असहाय छोड़ दिया गया है। आवाज उनकी तरफ से आ रही है जो भारत में अपनी अलग पहचान बनाए रखना चाहते हैं तथा मुसलमानों को शेष समाज से अलग-थलग करके देखते हैं। इनके निजी हित मुसलमानों पर इतिहास के अंधेरे पक्ष में पनपी अवैधानिक परम्पराओं की जड़ता की जकड़न में निहित हैं। शाह बानो के मुकदमे में इसी कट्टरपंथी तबके द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में धर्माधारित न्यायिक अस्पृश्यता की दुहाई दी गई।

संविधान की धारा १४१ के अन्तर्गत प्राप्त न्याय सत्ता हराम हो जाती है जब मानव अधिकार उलेमा के न्याय क्षेत्र के सैन्यीकृत दुर्ग की ओर कदम बढ़ाते हैं। शिखर न्यायालय के युगान्तकारी निर्णय के पश्चात् पर्यावरण तथा वन मंत्रालय में राज्यमंत्री जियाउर्रहमान अंसारी ने संसद के विशेषाधिकार के आवरण में मुख्य न्यायाधीश चन्द्रचूड़ को तेली तथा तंबोली तक कह डाला। न्यायाधीश की गरिमा पर आघात करते हुए वे एक ही साँस में कह गए कि न्यायाधीश इस्लाम के इल्म से बिल्कुल वाकिफ नहीं हैं और कुरान और हदीस के उदाहरण देते हैं। इन्हीं अदालतों ने बनारस में कब्रिस्तान को एक जगह से उठाकर दूसरी जगह मुतलिक करने का फैसला दिया तो एक बावेला खड़ा हो गया। यह सब क्या है? ये लोग सुप्रीम कोर्ट की बेइज़्ज़ती कर रहे हैं। कितने बड़े दुर्भाग्य की बात है कि न्यायालय की प्रतिष्ठा प्रधानमंत्री की उपस्थिति में भंग की गई। होना तो यह चाहिए था कि न्यायालय की दीर्घा में घटित प्रक्रिया की प्रतिक्रिया में कोई मंत्री यदि उग्र होकर भड़क उठता है, तो हमारे लोकतंत्र में आग के खतरे की घंटी बजा देनी चाहिए। मुस्लिम कट्टरपंथियों ने सड़कों पर जिस तरह सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की धज्जियाँ उड़ाई उससे हिन्दू साम्प्रदायिकता को प्रश्रय मिला जिसकी दुखद परिणति ६ दिसम्बर को अयोध्या की दुखद घटना के रूम में सामने आई इस घटना में जिसने हजारों निर्दोष लोगों की बलि ले ली तथा अभी भी हिंसा का वीभत्स ताण्डव पूरी तरह रुक नहीं पा रहा है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद २५ जो स्वधर्म पालन की छूट देता है वह समान नागरिक संहिता के बीच अवरोधक बनकर खड़ा नहीं होता। अल्पसंख्यकों के निजी कानून अपिरिवर्तनशील नहीं है। मोपला उत्तराधिकार कानून तथा कच्छी मोमिन्स एक्ट महज इसलिए बनाये गये कि उन्हें हिन्दू कानून के परम्परागत दायरे से निकालकर शरीयत की परिधि में लाया जा सके। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त के अलावा १९३७ तक भारत के बाकी कई हिस्सों जैसे संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त व बम्बई के मुसलमानों पर उत्तराधिकार के मामले में काफी हद तक हिन्दू उत्तराधिकार कानून लागू होता था। जब उन पर शरीयत कानून लागू किया गया तो उनमें बड़ा असंतोष फैल गया था। उत्तरी मालाबार क्षेत्र माक्कथयम में कानून हिन्दू मुसलमानों सभी पर समान रूप से लागू होता था। अतः स्पष्ट है कि इस तर्क में भी सत्यता नहीं है कि मुस्लिम कानून अपरिवर्तनशील है जिसका अनुसरण वे प्राचीन काल से कर रहे हैं।

जब भारत ने हिन्दू प्रजातंत्र न बनने का निश्चय किया तो मुस्लिम नेताओं ने तारीफ की और भारतीय संविधान के प्रति वफादारी की कसम खायी। आज वे उसकी एक महत्वपूर्ण धारा का सहारा लेते हैं तथा दूसरी का विरोध करते हैं। मुस्लिम समाज के पिछड़ेपन को भूलकर मुस्लिम लोग निजी कानून रूपी छिलके को ही मेवा की गिरी मान बैठे हैं। इस देश में केवल बहुसंख्यक समाज ही है जो बदलती हुई परिस्थितियों और समय के अनुरूप अपने आपको ढालने का प्रयास करता है। हिन्दू अपने कानूनों में परिवर्तन और सुधार लाने के लिए मुस्लिम कानून से शिक्षा ग्रहण करने और कुछ भी लेने को तैयार हैं। दूसरी ओर अल्पसंख्यक यह भी नहीं मानने को तैयार होते कि आस्था व धर्म के आवरण में जिस स्वतंत्रता का वे उपभोग कर रहे हैं वह किसी दैवी सिद्धान्त नहीं संविधान द्वारा प्रदत्त है।

व्यक्तिगत कानूनों ने समाज के विभिन्न वर्गों के बीच सशक्त दीवार का ही काम नहीं किया है, अपितु उन्हें एक दूसरे के प्रति आक्रामक भी बनाया है। एक ही राष्ट्र में द्विराष्ट्र के सिद्धान्त को प्रश्रय दिया है। सभी नागरिकों के बीच कल्याण, समानता तथा भाईचारे की भावना को जन्म देने के स्थान पर विद्वेष की भावना को जन्म दिया है। आज

देश में जो दुःखद स्थिति बनी हुई है उसके मूल में वस्तुतः एकसमान नागरिक संहिता का न होना मुख्य कारण रहा है। आज के प्रगतिशील युग में दकियानूसी तथा प्रतिगामी कानूनों के बने रहने का कोई औचित्य नहीं रह गया है। अल्पसंख्यकों की तरफ से निजी कानूनों के हटाने का विरोध इसलिए हो रहा है क्योंकि उन्हें जागरूक नेतृत्व नहीं मिला है। तथाकथित धर्मनिरपेक्ष शक्तियाँ भी उनको शेष समाज से अलग-थलग करके देखती हैं जिससे अल्पसंख्यकों में एक तीव्र अल्पसंख्यकीय हीनभावना और अपने धार्मिक सुरक्षा वैशिष्ट्य की पहचान के प्रति अपार भय समा गया। आज इस्लामी राष्ट्र भी जहाँ समय की माँग के अनुसार अपने निजी कानून को बदल रहे हैं वहाँ हम जड़ बने बैठे हैं। १९४८ का मिस्र का कानून जिसके आधार पर बाद में सीरिया, लीबिया, ईरान आदि के कानून बने उनमें शरीयत के कुछ प्रावधान ही शेष रह गये हैं। बहु विवाह प्रथा पर एक के बाद एक कई देशों ने पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया है। ट्यूनीशिया में १९५६ के लॉ ऑफ पर्सनल स्टेटस की धारा १८ के तहत बहुविवाह प्रथा निषिद्ध है। पूर्वी अफ्रीका की इस्माइली खोजा की धारा २२३ बहु विवाह प्रथा को पूरी तरह निषिद्ध मानती है। संविधान ने उसी विवाह को मान्यता दी है जिसमें किसी की पत्नी या पति जिन्दा न हो। छोटे से देश दक्षिणी यमन में भी १९७४ के कानून के अनुसार बिना जिला अदालत की लिखित अनुमति के दूसरा विवाह अवैध है।

देश को कोफेपोसा एक्ट की अपेक्षा एकसमान नागरिक संहिता की अधिक आवश्यकता है। एकसमान नागरिक संहिता होने से साम्प्रदायिक खाइयाँ जो दो वर्गों के बीच उभर रही हैं मिट जायेंगी। जाति और भेद के कारण मनों में जो भेद उभर रहे हैं वे अपनी मौत मर जायेंगे। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धार्मिक या साम्प्रदायिक आधार पर शोषण करना नहीं है। विवाह, तलाक, तथा उत्तराधिकार आदि के विषय में अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग कानून उनके जीवन पर अलग-अलग प्रभाव डालता है। यह संविधान निर्माताओं के इरादों पर क्रूर व्यंग्य है। यदि उनके मन्तव्य पवित्र माने जायें तो कम से कम यह उन उत्तराधिकारियों की ईमानदारी पर क्रूर व्यंग्य है जिनके ऊपर संविधान के क्रियान्वयन का दायित्व सौंपा गया है।

समान नागरिक संहिता में अधिक शिथिलता राष्ट्र व लोकहित में उचित नहीं है। संविदान की मूलभूत अवधारणा का भी यही उद्देश्य है कि समाज के व्यापक हित में समान नागरिक संहिता को व्यावहारिक रूप दिया जाना चाहिए। अन्याय तथा विभेद पर आधारित कानूनों को बदला जाना चाहिए, चाहे वह किसी धर्म विशेष से संबंधित पर्सनल कानून ही क्यों न हों। परम्परागत विचार आधुनिक तथा भावी पीढ़ियों की नव सृजन प्रक्रिया को कुंठित करने वाले चिरंतन अनुबन्ध का विषय नहीं बन सकते। अमरीका तथा यूरोपीय राष्ट्रों में पृथक निजी कानूनों का कोई अस्तित्व तक नहीं है तथा किसी अल्पसंख्यक वर्ग ने यह मांग तक नहीं की है कि उसके लिए व्यक्तिगत कानून बनाया जाना चाहिए।

समान नागरिक संहिता की मांग न्यायपूर्ण व मानवतावादी है। संविधान की धारा ५१ (क) प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य बताती है कि वह संविधान का पालन करे, उसके आदेशों का और संस्थाओं का सम्मान करे और वैधानिक दृष्टिकोण, मानवतावादी शोधकवृति तथा सुधार भावनाएं अपनाए। यह कर्तव्य आधारभूत माना गया है। व्यक्तिगत कानूनों को संविधान निर्माताओं ने अपरिवर्तनशील नहीं बनाया है। ऐसे नियम विकास प्रक्रिया तथा संवैधानिक व्यवस्थाओं में बाधक सिद्ध होते हैं तो उन्हें बदल देना चाहिये। यही संविधान निर्माताओं का मानस था। वे ऐसे धार्मिक रुढ़िवादी नहीं थे जो हर धार्मिक अंधविश्वास को ही अपरिवर्तनशील तथा हर मजहबी रिवाज को निर्दोष वरदान मानते थे। धार्मिक विश्वास को धर्मनिरपेक्ष सत्ता के अधिकार प्रयोग की सीमा से बाहर रखने की माँग हास्यप्रद है। इस प्रकार की माँग को इस्लामी लोकतंत्र में ही मान्यता मिल सकती है। धर्मनिरपेक्ष राजनीति में उसे हास्यास्पद ही माना जाएगा। आज राजनीतिक अवसरवादिता इतनी छा गई है कि इसने उर्वरक विचारों को ही दुर्लक्ष्य बना दिया है। इस त्रासदी को झेलने वाला सिर्फ अल्पसंख्यक वर्ग ही नहीं है। बहुसंख्यक वर्ग में भी जब इस प्रकार की माँग उठती है तो धर्म विरोधी मार्का लगा दिया जाता है । निजी कानूनों के अस्तित्व में रहते हुए समाज के दुर्बल वर्ग को मानव सुलभ सुरक्षा भी प्राप्त नहीं हो सकती। संविधान की प्रतिबद्धता की वेदी पर निजी आग्रहों तथा आस्थाओं का कोई मूल्य नहीं होता।

(राष्ट्रीय सहारा, २२ फरवरी, १९९३)

❑❑❑

वैदिक रसायन विज्ञान

— डॉ० उमेश तिवारी

कानपुर के एक प्रतिष्ठित कॉलेज में अध्यापनरत तथा अपने विषय में सुविज्ञ लेखक का यह लेख 'वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग' द्वारा आयोजित 'शब्दावली कार्यशाला' में दिये गये उनके व्याख्यान का सारांश है।

वैदिक काल से भारतीय ऋषियों ने अपने दर्शन में ज्ञान को विज्ञान से अधिक महत्व दिया है। उन्होंने भौतिकवाद को एक तरह से नकारा ही है। वस्तुतः यही कारण रहा है कि विज्ञान की जो भी उपलब्धियाँ हिन्दू विद्वानों के पास रही होंगी, उनके प्रायोगिक सत्यापन (Experimental Proof) हमारे साहित्य में नहीं मिलते। फिर भी ये दर्शनशास्त्री विज्ञान के हर क्षेत्र में पारंगत थे - चाहे वो भौतिकी, रसायन, चिकित्सा हो या कोई अन्य वैज्ञानिक शाखा। इन रसायन शास्त्रियों अथवा वैज्ञानिकों ने अपनी उपलब्धियों को गूढ़ क्यों रहने दिया, उसे सहज क्यों नहीं बनने दिया अथवा धर्म से या दैनिक जीवन से क्यों जोड़ दिया यह यहाँ प्रासंगिक नहीं है और न ही मैं इसकी व्याख्या ही करना चाहूँगा। यह मेरे सीमित ज्ञान के परे भी है।

भारत में रसायन विज्ञान के पितामह कहे जाने वाले रसायन शास्त्री आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र रे और उनके समकक्ष अन्य विद्वानों ने जो कुछ सार-तत्व प्राचीन हिन्दू रसायन विज्ञान से विमोचित किया है उसमें से केवल कुछ उदाहरण मैं आपके समक्ष प्रस्तुत करना चाहूँगा।

सभी तत्वों से पारद (Mercury) की विलक्षणता सर्वविदित है। धातु होते हुए भी सामान्य तापमान (Room Temperature) पर यह द्रव अवस्था में रहता है। पारदन इसकी अनोखी विशेषता है। पारद निवेशन (Mercuration) से कार्ब पारद यौगिक प्राप्त हो सकते हैं।

यह रसायन का वह ज्ञान है जिससे आज हम सभी परिचित हैं। पर वैदिक कालीन रसायन शास्त्रियों को पारद के कुछ ऐसे गुणों का ज्ञान था जिन्हें हम विज्ञान की इतनी प्रगति के बाद भी खोज नहीं सके हैं। इनमें से एक गुण है स्वर्ण और पारद का परस्पर सम्बन्ध और उनकी साम्यावस्था अभिक्रिया, जिसके द्वारा स्वर्ण धातु पर पारदन भी हो सकता है और कोई ऐसा संकलन उत्पाद बनाया जा सकता है जिसका आयतन तो स्वर्ण और पारद से अधिक हो परंतु भौतिक गुण, विशेष रूप से रंग, स्वर्ण से मिलता हो एवं जो ऊष्मा द्वारा अपघटित (Decomposed) हो जाता हो।

यह न तो 'अलकेमी' थी और न ही पारस पत्थर (Philosopher's Stone) की परिकल्पना। अपितु निश्चित रूप से यह एक गूढ़ रासायनिक क्रिया थी जिसमें धातुकर्मी अभिक्रिया (Metallurgical Treatment) की दक्षता रही होगी। रावण को अथवा किसी और को यह धातुकर्मी अभिक्रिया अवश्य ज्ञात रही होगी। नहीं तो क्या सोने की लंका आग से जल सकती थी? वह विशुद्ध सोना नहीं था। यह अवश्य कोई ऐसा उत्पाद रहा होगा जो विशिष्ट धातुकर्मी अभिक्रिया द्वारा बनाया जाता होगा। आज बहुत से मिश्र धातु अन्तरिक्ष में धातुकर्म द्वारा बनाये जाते हैं, जिनके विशिष्ट गुण होते हैं और जो साधारण क्रियाओं द्वारा पृथ्वी पर नहीं बनाये जा सकते।

आचार्य रे के मतानुसार भारतीय चिकित्सा पद्धति में प्रयोग किया जाने वाला रसायन 'पारद भस्म' पारद

ऑक्साइड से सर्वथा भिन्न गुण-धर्म वाला पदार्थ है। इसका अर्थ यही हो सकता है कि तत्कालीन वैज्ञानिकों के पास किसी विशेष रासायनिक क्रिया द्वारा द्रव पारद को सूक्ष्म क्रिस्टलीय संरचना (Microcrystalline Structure) वाले चूर्ण में परिवर्तित करने की क्षमता रही होगी।

सिन्दूर नारी साज-सज्जा का साधन मात्र नहीं। इसमें उपस्थित पारद योगिकों की कवकनाशी (Fungicidal) क्रिया सर्वविदित है। इसी प्रकार काजल में उपस्थित कार्बन के अवशोषण के गुण को ध्यान में रख कर ही इसका प्रयोग प्रारम्भ किया गया होगा। शरीर पर स्वर्ण धारण करने के पीछे भी वैज्ञानिक आधार था। आभूषण 'विकिरण अवरोध' (Radiation Shield) की तरह कार्य करते हैं यह तथ्य और उसमें निहित वैज्ञानिक सिद्धांत इन वैदिक आचार्यों को भली-भाँति ज्ञात थे।

धातुओं की आविषालुता (Toxicity) तथा जैव रासायनिक अभिक्रियाएं (Biochemical Reactions) प्राचीन भारतीय रसायन शास्त्रियों को विदित थीं जिनके आधार पर उन्होंने न जाने कितने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और जो आज भी शोध के विषय हैं। मानव शरीर में स्वर्ण की उपस्थिति का ज्ञान एक ऐसा ही उदाहरण है। सर्वविदित है कि स्वर्ग नहीं बल्कि ताँबा, जस्ता, लोहा एवं टिन आदि किसी न किसी माध्यम से शरीर में प्रविष्ट हो रहे हैं तो किसी Transmutation प्रक्रिया से ये शायद स्वर्ण में परिवर्तित होते रहते हैं यह जानकारी हमारे आचार्यों को रही होगी।

ऐसे जाने कितने रासायनिक सिद्धान्त वैदिक कालीन रसायन शास्त्र में निहित हैं और यह हमारा दुर्भाग्य हैं कि हम 'डाल्टन' आदि वाद को महत्व देते हैं पर कणाद जैसे हिन्दू वैज्ञानिकों को और उनके कार्यों को भूले हुए हैं।

□□□

बचपन

— प्रवीण पाण्डेय

वे क्षण भी कितने निश्छल थे
चंचलता का छोर नहीं था।
जीवन का हर रूप सही था
व्यथा युक्त कोई भोर नहीं था।

चिन्ता के निष्फल चिन्तन में
नहीं बीतता समय कभी था
घर थी सारी ज्ञात धरा तब,
दम्भ युक्त अज्ञान दूर था।

व्यक्त सदा थी मन अभिलाषा
छलना तब व्यवहार नहीं था।
मन में दीपित मुक्त दीप था
अन्धकार का स्याह नहीं था।

अनुभव का अंबार नहीं पर
ऊर्जा का हर कुम्भ भरा था।
नहीं उम्र के वृहत् भवन पर
हृदय क्षेत्र विस्तार बड़ा था।

थे अनुपम वे ज्ञान रहित क्षण
था जब अपना अन्तर भरा।
आज हृदय है खाली-खाली
पर ज्ञान कोष में अनल भरा।

□□□

विज्ञान और धर्म-परस्पर विरोधी अथवा पूरक?

-सुनील कुमार मिश्र

धर्म क्या विज्ञान का परिपंथी है? यह प्रश्न नाना प्रकार से सामान्य शिक्षित नर-नारियों के अन्तर्मन में बारम्बार जागता है। धर्म के साथ विज्ञान का कोई विरोध है अथवा नहीं इसकी समीक्षा करने के लिए स्पष्ट रूप से यह समझना होगा कि धर्म से हम क्या समझते हैं, और इस धारणा के साथ विज्ञान चेतना का संघात किस सीमा तक और किस प्रकार से होता है। मानव सभ्यता का जन्म और विवर्तन किस प्रकार कितनी यात्रा पूर्ण करके आज बीसवीं शताब्दी के किनारे आकर धर्म की विभिन्न परिभाषाएं एवं वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक प्रामाणिक सत्यों का आपात विरोध लेकर कितने तर्कों-वितर्कों की अवतारणा की जा रही है, उसकी अधिक विस्तार से आलोचना न करते हुए भी धर्म को यदि हम मानव सत्ता के वृहत्तर सत्य का अनुवर्तन समझें और विज्ञान का अर्थ यदि प्रकृति के अन्तर्निहित सत्य का उद्घाटन मानें तब यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि विज्ञान और धर्म में कोई विरोध तो नहीं ही है अपितु दोनों एक दूसरे के परिपूरक ही हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विभिन्न सम्प्रदायों के अनेक नर-नारी भिन्न-भिन्न प्रकार से धर्माचरण करते हैं, कुछ अभ्यासवश तो कुछ संस्कारों के कारण। वृहद् सत्य के अनुवर्तन का प्रश्न उतना नहीं उठता है, यह बात ठीक है और यह भी सत्य है कि तथाकथित वैज्ञानिकों में एक वर्ग ऐसा भी है जो जीवकोपार्जन के उद्देश्य से विज्ञान चर्चा करता रहता है पर प्राकृतिक शक्तियों के रहस्योद्घाटन में जिसकी विशेष भूमिका नहीं रहती। इन लोगों में धर्म एवं विज्ञान को लेकर जो विरोध है उसकी मीमांसा करने के लिए कूट तर्कों की विस्तृत अवतारणा करनी पड़ेगी, जिसमें हम नहीं जा रहे हैं। हमारा आलोच्य विषय क्या है, पहले हम इसके बारे में तनिक विस्तार से चर्चा करेंगे।

प्रत्येक धर्म का एक दार्शनिक पक्ष होता है और होता है कर्म-काण्ड! धर्म के साथ विज्ञान का अथवा वैज्ञानिक मानसिकता के साथ धर्मानुवर्तिता का दो प्रकार से विरोध होता है - कर्मकाण्ड को लेकर तथा तात्विक पक्ष की योक्तिता को लेकर। सामान्यतया धार्मिक कर्मकाण्ड जन्म लेते हैं विभिन्न काल खण्ड की सामाजिक व्यवस्था द्वारा निर्देशित लोकाचारों के माध्यम से। उसके बाद शायद इन सब धर्माचारों के मध्य धर्म को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से सभी की एक दार्शनिक व्याख्या प्रतिपादित की जाती है। विज्ञान का भी एक तात्विक पक्ष है और एक प्रयोगात्मक पक्ष है। यदि प्रयोगशाला परीक्षण-निरीक्षण को हम वैज्ञानिक कर्म-काण्ड कहें तो कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में इन कर्मकाण्डों का प्रवर्तन वैज्ञानिक तत्व की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से किया जाता है। और अधिक स्पष्ट करना चाहें तो तात्विक विज्ञान यह निर्देशित करता है कि दृष्टिगोचर प्रकृति का मूल शक्ति सम्भार किन नियमों से विधृत है तथा उक्त नियम मानने से पदार्थ कण किस प्रकार प्रयोगशाला के यंत्रों की सहायता से व किस प्रकार की विभिन्न शक्तियों के आघात से भिन्न अवस्थाओं में, भिन्न आकारों में प्रकाशित होगा। वैज्ञानिक तत्व का सत्य तब ही स्वीकृत होगा जब वह प्रयोगात्मक प्रक्रिया में अपने निर्देश का समर्थन प्राप्त करेगा। इस कारण से कई बार विज्ञान पथयात्री, यौक्तिकतावादी मनुष्य सामान्य धर्माचारी मनुष्यों की आचार परायणता को एक निरर्थक, तर्कहीन कुसंस्कार ही समझते हैं। यहाँ पर इस सन्दर्भ में धार्मिक आचारशीलता के पक्ष में कुछ कहा जा सकता है। हम जानते हैं कि 'भिन्नरूचिर्हिलोकाः' - विभिन्न मनुष्यों का अच्छा लगना, खराब लगना विभिन्न प्रकार का होता है। और सामान्य मनुष्य कभी भी देशाचार का अतिक्रमण नहीं करना चाहता वरन् उसके अनुसरण पूर्वक निरुपद्रव जीवन यापन ही उसकी कामना रहती है। ऐसे लोगों की धर्मचेतना जाग्रत हुई है शैशवकाल में मातृक्रोड़ से, बाल्यावास्था की क्रीड़ा भूमि से। इसी कारण यह लोग निःसंकोच प्रचलित धर्माचार को ग्रहण कर लेते हैं। पुष्प - वेलपत्र से नैवेद्य सजाकर देवता का अर्चन करके यह लोग अनुभव कर सकते हैं कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर के प्रति उनकी हार्दिक भक्ति, इन्हीं सब उपाचारों के माध्यम से निवेदित की गयी। यह मानसिकता यौक्तिकताहीन कुसंस्कार हो सकती है परन्तु निरर्थक कदापि नहीं। कारण, परम् महत् सत्य की जो कल्पना ईश्वर नाम में अभिहित है, उसके सान्निध्य की

अनुभूति मनुष्य को नीचता (छोटेपन) के आवर्त से उठाकर उच्चासन पर स्थापित करती है। मानव चेतना का यह प्रसार लोक कल्याणकारी, सर्वमान्य, सर्वकाम्य है। इसी प्रकार विज्ञान का सार्थक अनुशीलन भी तर्क रूपी पारस पत्थर से परख कर भेद-बुद्धि का नाश करता है, मानव दृष्टि में विशालता का निर्माण करता है।

अतः देखा जाये तो विज्ञान और धर्म जैसे एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर दो भिन्न पथ के यात्री हैं। धार्मिक एवं वैज्ञानिक दोनों ही एकांतिक भाव से सत्य के अनुसंधानी हैं - एक जन परम् सत्य को प्राप्त करने के लिए चल रहे हैं अन्तर्लोक का एक के बाद एक आवरण उन्मोचित करते हुए तो अन्य जन चल रहे हैं बाह्य लोक के आपात् सत्य को पार करके उसमें निहित सत्य का संधान करते हुए।

यह तो हुई साधारण रूप से विज्ञान और धर्म के संघात-समन्वय की बात। और विस्तार से चर्चा करने से दिखाया जा सकता है कि नास्तिकतावादी विज्ञान और आस्तिकतावादी ईश्वरीय दर्शन किन्हीं-किन्हीं मामलों में प्रायः समान धारणा से प्रभावित हैं। अभी तक विज्ञान तथा धर्म यह दो शब्द ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किए गये हैं, इनके उपांगों की चर्चा नहीं की गयी है। विज्ञान की अनेक शाखाएँ हैं, जैसे समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, गणित आदि। दूसरी ओर धर्म के भी देशकाल जातिभेदानुसार अनेक अनुशासन हैं जैसे सनातन धर्म, इसलाम, ईसाई, पारसी आदि। इन सभी धार्मिक पंथों के आचार एवं भावों में बहुत भिन्नता होते हुए भी सभी धार्मिक पन्थों का लक्ष्य एक ही है- ईश्वर प्राप्ति। भिन्न पथों से ईश्वराभिमुख अग्रसर, ईश्वरचिन्तायुक्त समस्त अनुभव साधक की निष्ठा के अनुसार सभी पंथों में प्रायः एक प्रकार से ही प्रकाशित होते हैं। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के साथ धर्म के विभिन्न मतों की तुलना शायद इसी कारण ठीक नहीं है। किन्तु वेदों में वर्णित सनातन धर्म के गूढ़ तत्वों की उपलब्धि के उपाय निर्देशित करने हेतु विभिन्न दार्शनिक मतों का प्रणयन हुआ है और किस मत के प्रयोग द्वारा क्या लाभ पाया जाय इसकी विशद चर्चा है। इस प्रकार की तात्विक चर्चा सभी धर्मों में पायी जाती है, परन्तु वह सब जैसे उनकी सारी धार्मिक शिक्षा में फैली हुई है। विशिष्ट भावानुसार, विशिष्ट दार्शनिक अवधारणा द्वारा धर्म के विभिन्न तत्वों की व्याख्या करने की चेष्टा सनातन हिन्दू धर्म का वैशिष्ट्य है। माधवाचार्य कृत 'सर्वदर्शनसंग्रह' ग्रन्थ में सोलह दर्शनों की बात कही गयी है, जिनमें षड्दर्शन ही अधिक प्रसिद्ध हैं - न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातंजल, मीमांसा एवं वेदान्त। इनके अतिरिक्त बंगाल और तिब्बत में तांत्रिक साधना का प्रचलन भी है। बौद्ध तथा जैन दर्शन भी भारत में प्रचलित हैं। यहाँ धर्म के तात्विक विश्लेषण प्रसंग में केवल भारतीय दर्शन के उल्लेख का कारण है कि धर्मानुभूति के विश्लेषण रूप में दर्शन की उपस्थापना एवं उसका विस्तार भारतवर्ष की ही विशिष्टता है। भारत वर्ष का दर्शनशास्त्र उसकी धर्म चेतना का बोधिस्वरुप है। विश्व में प्रचलित अन्य धर्मों में मानव सत्ता के सूक्ष्मतम का अतिक्रमण करके विशाल को प्राप्त करने की ईप्सा, उसके एकात्मिक आत्ममंथन की बात इत्यादि को ईश्वर अभिलाषा के नियामक रूप में इतनी स्पष्टता के साथ वर्णित नहीं किया गया है। इसलिए विज्ञान और धर्म के विरोध एवं समन्वय की आलोचना करते हेतु धार्मिक तत्व के रूप में हम भारतीय दर्शन-चिन्तन का ही अनुसरण करेंगे। वेदान्त में व्यक्त अद्वैतवाद ही मानव-धर्म-चेतना की अन्तिम बात है। परन्तु अद्वैतवाद के अतिरिक्त द्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद भी भारतवर्ष की अध्यात्म चेतना से ही उपजे हैं। ईश्वर प्रेमी मनुष्य भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाओं में, भिन्न-भिन्न प्रकार से ईश्वर सानिन्ध्य का भोग करना चाहता है। एक सांसारिक मनुष्य की तरह वह सर्वशक्तिमान न्याय स्वरूप ईश्वर को प्रभुरूप में अनुभव करके तृप्ति का बोध करताहै (द्वैतवाद)। फिर धर्मसाधनापथ पर और अग्रसर होकर जब वह अनुभव करता है कि विश्व प्रकृति की अनन्त महिमा और ऐश्वर्य उसकी व्यक्तिसत्ता को प्लावित करके प्रकाशित हैं, तब उसे लगता है कि वह उस महामहिमामय सर्वशक्तिमान ऐश्वर्य के आकार, सर्वार्थ में पूर्णता के स्वरूप ईश्वर का ही अंश है (विशिष्टाद्वैतवाद)। साधना के पथ पर और अधिक अग्रसर होने पर, साधक की सम्पूर्ण सत्ता पर ईश्वर चेतना हावी हो जाती है तब उसकी बोधगामिता के साथ जुड़ जाती है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो परम चेतना का विस्तार है उसी की संशयहीन धारणा, और उसी महाजाग्रत अमृत स्वरूप अनन्त चेतना के बीच उसकी व्यक्तिसत्ता अन्तर्लीन हो जाती है। अद्वैतवाद की इसी अनुभूति से ही वेदान्त की वाणी निकलती है- "जीवः ब्रह्मैव नापरः"।

सनातन धर्म के तात्विक पक्ष के विवेचना प्रसंग में हम षड्दर्शन की व्याख्या उपस्थापित कर सकते हैं। द्वैतवाद, अद्वैतवाद अथवा विशिष्टाद्वैतवाद प्रत्येक का मूल उद्देश्य है आत्मज्ञान प्राप्ति-जीव जो चैतन्य स्वरुप है, स्वभावतः ही मुक्त

है, यही सब सत्य निज अस्तित्व में अनुभव करना। जीवसत्ता को जो धारण किए हुए है इसका नाम ही धर्म है।

धार्मिक प्रसंग में हम देखते हैं कि ज्ञानार्जन हेतु अन्तर्मुखी होना पड़ता है, परन्तु विज्ञान बहिर्मुखी है। विज्ञान के विश्लेषणात्मक अध्ययन से ज्ञात होगा कि विज्ञान बढ़ रहा है प्रतिपद में अवधारणाओं के प्रमाण जुटाते-जुटाते, किन्तु धार्मिक प्रसंग में इस प्रकार के वस्तुवादी प्रमाणों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस क्षेत्र में ज्ञातव्य है निज स्वभाव का बुद्ध, मुक्त एवं आनन्दमय स्वरुप। सांख्य दर्शन में भी सृष्टितत्व की आलोचना की गयी है। वहाँ पर भी हम देखते हैं कि साम्यावस्था से, क्रमानुसार विक्षेपों के द्वारा उद्भासित होकर सृष्टि का निर्माण होता है। किन्तु यहाँ पर भी अन्तर के अन्तःकरण में प्रवेश करके यह समझाने की ही चेष्टा है कि इस तत्व की धारणा हमारी चेतना में किस प्रकार प्रकाशित हो रही है। उपनिषद में कहा है कि- 'द्वे विद्ये वेदितव्य पराचैवापरा च'। विज्ञान अपराविद्या लाभ की साधना है और धर्म पराविद्या लाभ की। मानव के सम्पूर्ण विकास के लिए इन दोनों प्रकार के ही ज्ञानार्जन की आवश्यकता है। इन्द्रिय ग्राह्य ज्ञान को बुद्धि के द्वारा, मनन के द्वारा अर्जित करना होता है और अर्जित विद्या सम्पूर्ण रुप से आयत्ताधीन होने पर ही मनुष्य के अन्दर स्पृहा जन्म लेती है उसका अतिक्रमण करने को। विश्व परिचय प्रगाढ़ होने पर विश्व चेतना के स्पन्दन का अनुभव किया जा सकता है। तब मनुष्य सब विषमताओं के पार जाकर उस आनन्दस्फूर्त चेतना का सन्धान करके पराविद्या प्राप्त करना चाहता है। मानव इतिहास यही बात कहता है ।

और एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है। धर्मसाधना पथ पर साधक जो अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ प्राप्त करते हैं, उनमें से कोई भी प्रमाणसापेक्ष नहीं, इस प्रकार की भावना सही नहीं है। कारण, युगों-युगों से, देशकाल के विभिन्न फासलों में अनेक धर्मात्मा महापुरुष समान प्रकार की अतीन्द्रिय अनुभूतियों से धन्य हुए हैं । Erwin Schroedinger ने कहा है, ''Again ,the mysteries of many centuries, independent of each other (some what like the particles in an ideal gas) have described, each of them, the unique experience of his or her life in terms of what can be condensed in the phrase : DEUS FACTUS SUM (I have become God)''.

मनोवैज्ञानिकगण नाना उपायों से समझने की चेष्टा कर रहे हैं कि योगी के अन्तर्लोक में जो अवस्थान्तर होता है उसका कोई परिमाप योग्य मात्रा निर्धारण संभव है अथवा नहीं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की चेष्टा असफल ही सिद्ध होगी। कारण कि जिस निस्तरंग मनोराज्य में भगवत् चेतना प्रकाशित होती है वह सामान्यतम व्याख्या द्वारा ही अवस्थान्तर में चली जाएगी, उसमें परिमापन हेतु कुछ शेष ही नहीं रहेगा।

धर्म के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की क्या धारणा है इस सम्बन्ध में Albert Einstein की सुविख्यात उक्ति उद्धृत की जा सकती है, "Religion is lame without Science, Science is blind without Religion". वैज्ञानिक तत्वों की अवधारणा में उन्हें शायद यह बोध हुआ था कि इन्द्रिय ग्राह्य वाह्य-प्रकृति एक महाचैतन्य पर अधिष्ठित है और वही विश्वचेतना ही ज्ञेय है जो अन्तर को द्रवित करती है, वसुधा को कुटुम्ब बना डालती है। विज्ञान यदि इस बोध के बगैर ही आगे बढ़ना चाहता है तब वह अन्धे व्यक्ति की पथ परिक्रमा मात्र ही होगी।

वर्तमान समय में विज्ञान के स्वनामधन्य वैज्ञानिक Stephen Hawking ने सृष्टितत्व की व्याख्या करके कहा है -'तब अन्य किसी ईश्वर कल्पना की कोई आवश्यकता ही नहीं है, स्रष्टा बिना ही विश्व सृष्टि हो गयी है'। उनकी बात के भाव धर्म की समाप्ति की घोषणा का इंगित करते हैं। किन्तु विश्वस्रष्टा के रूप में ही ईश्वर की कल्पना करनी होगी, ऐसा जरूरी तो नहीं। प्रश्न यह है कि जड़ प्रकृति को पार करके मन, बुद्धि की सहायता के बिना एक आनन्दपूर्ण विश्वचेतना के साथ व्यक्तिसत्ता का परोक्ष संयोग, विज्ञान का परिपन्थी है अथवा नहीं। गौतम बुद्ध, श्री चैतन्य, श्री रामकृष्ण, ये सभी ऐतिहासिक पुरुष हैं। चैतन्य रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान इनकी आश्चर्यजनक चरित्रमहिमा बखान करता है। विज्ञान प्रत्यक्ष सत्य को अस्वीकार नहीं कर सकता। इसी कारण विज्ञान धर्म का परिपन्थी नहीं वरन् उसका परिपूरक ही है।

संदर्भ

1. Complete works of Swami Vivekananda, Vol I, Advaita Ashram.
2. Spiritual heritage of India, Swami Prabhavananda.
3. A brief history of time, Stephen Hawking, Bantam Books.
4. What is life, E. Schroedinger, Cambridge University Press.

Stop Putting Things Off

-Jennifer Baker

Procrastinate. We all do it. It was not instilled in us at an early age by our parents or society; it is something we learned all on our own. Though we usually associate stalling techniques with disagreeable chores, they embrace enjoyable tasks as well.

For many people, procrastination has become a way of life; they are no longer even aware that they are putting things off. If you often find yourself hoping that things will eventually work themselves out or wishing they were better, you are procrastinating. Hope never solves a problem and wishing never imporves things. Action does.

There are many forms of procrastination. Some of the most familiar ones are :

- ☐ Over a period of time you have been putting on weight. You know you should lose it and keep telling yourself that you'll start on a diet tomorrow.
- ☐ You promise yourself that you will stop smoking as soon as the current emotional crisis passes. By the time the crisis is over, you have lost your resolve to give up the deadly weed.
- ☐ You remain in a relationship with someone who no longer engages you. You are waiting for things to magically improve.
- ☐ On Friday you have to take an important exam and you put off studying until Thursday.
- ☐ You stay at a job which stifles you and affords no opportunity for personal growth or advancement.

Some forms of procrastination are less apparent. Do you ever find yourself too tired to attack a task you promised yourself to finish ? Chances are you are procrastinating. If something more interesting presented itself, your tiredness would vanish. Have you ever awakened too sick to get out of bed on the day you have an important meeting or appointment? It could be 'delaying action'. Complaining about all the things you have to do is another way to put things off. The more you complain, the less you accomplish and the mounting pile of unfinished business adds even more fuel to your complaining pattern.

Procrastination can cause unnecessary anxitey and guilt. A situation comes up which makes you anxious. You put off dealing with it until a future date, all the while feeling guilty. When that future date arrives, you are again faced with anxiety plus a backlog of guilt. It would have been more sensible to have dealt with the problem when it first arose. That way you would have avoided one anxiety attack and would have felt good because you had dealt with the problem.

If procrastination causes so much anxiety and guilt, why do you continue to do it? People procrastinate for three basic reasons: a wish to escape reality; fear of failure (which translates as self-doubt); and self-delusion. These reasons are closely linked and often can overlap one anohter.

By putting things off, you think you can escape from unpleasant activities. But they're still there, still causing you anxiety and still waiting to be dealt with. Procrastination also allows you to blame others for your unhappiness and boredom rather than taking responsibility for your feelings. By procrastinating you are letting someone - or something - else take charge of your life.

It is also a way to manipulate others. Perhaps they will feel sorry for you because you have so much to do. They may even offer to do part of your work for you.

Procrastination also helps you avoid success. But why, you ask, would I want to avoid success? Because you have such a low opinion of yourself and success would be one sign that you are not such a terrible person. You are comfortable with your low self-esteem; trying to change it is too risky.

On the other hand, fear of failure is another common reason for procrastination. If you keep putting something off, you cannot fail at it. If you put it off until the last minute you always have the excuse that you didn't have enough time to do the job you were capable of. Here again, self doubt is the culprit.

Make an effort to rid yourself of this self defeating behavior AND DO IT NOW! Just so you can't put it off by saying you don't know how to stop procrastinating, here are some pointers.

- ☐ Make a list of the things you have been puting off. Put your list in a prominent place.
- ☐ Then ask yourself "What is the worst thing that can happen to me if I do this task ?"
- ☐ Choose one activity from your list and set up a specific time to do it. As you complete an activity, mark it off your list.
- ☐ Become a doer. It is much easier to sit on the sidelines and criticise others' efforts. But it is more satisfying to get into the action.
- ☐ Believe in yourself and in your strength. Most of us are a lot stronger than we give ourselves credit for.

Make that list and start one task - NOW.

(Human Digest)

☐☐☐

आदर्श भारतीय नारी ?

– स्मिता सक्सेना

मैं बंधनों में पकड़ी गई हूँ
रीति-रिवाजों में जकड़ी गई हूँ
पहरे अनेक मेरे ऊपर
निषेध सभी मेरी खातिर
ज्यादा मैं पढ़ सकती नहीं
नर से आगे बढ़ सकती नहीं
हो छोटा या बड़ा भाई
करेगा मेरी रहनुमाई
है यही बचपन से जाना
घर पराये हमको जाना
जिंदगी का सारा सफर
काटा बेटी, पत्नी, माँ होकर
पहचानो सुन मेरी व्यथा सारी
मैं हूँ आदर्श भारतीय नारी

☐☐☐

निवेदन

बन्धुवर,

नमस्कार,

विद्यालय की शिक्षा पूर्ण किये हुए आपको पर्याप्त समय हो गया है। अब तो आप उच्च शिक्षा प्राप्त करने में, अपना व्यवसाय स्थापित करने में अथवा अपने परिवार के उत्थान में व्यस्त होंगे। सम्भवतः इन सब व्यस्तताओं के कारण ही आपको विद्यालय से पुनः सम्पर्क स्थापित करने का अवसर नहीं मिला। परन्तु सोचिए, अपनी बाल्यावस्था व किशोरावस्था की मधुरतम स्मृतियों से स्वयं को इस प्रकार काट लेना क्या अभीष्ट है? क्या ऐसा सम्भव है? आपके ही समान अपने विद्यालय से शिक्षा प्राप्त अनेक नौजवान अपनी संस्था 'युग-भारती' के माध्यम से पं० दीनदयाल उपाध्याय द्वारा दिखाये गये सेवा के मार्ग पर चलने का प्रयास कर रहे हैं। पिछले दो वर्षों में अपनी संस्था की सक्रियता तेजी से बढ़ी है। संस्था द्वारा संपादित कुछ कार्य हैं :

- जनवरी, ९२ में कानपुर जिले में विवेकानन्द भारत परिक्रमा के कार्यक्रमों का आयोजन।
- अक्टूबर, ९२ में चित्रकूट में तीन दिन तक चले तरुण चेतना शिविर में विचार - मंथन।
- महाराष्ट्र के भूकम्प पीड़ितों हेतु ११००० रु० की सहायता।
- २५ सितम्बर, ९३ को वृहत् पूर्व छात्र सम्मेलन।
- विद्यालय के छात्रों का शैक्षिक मार्गदर्शन।
- प्रत्येक माह के प्रथम व तृतीय रविवार को विद्यालय में बैठक, सामयिक विषयों पर चर्चा इत्यादि।
- नीराजन के बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह (निधन : ३१ अक्टूबर, ९३) श्रद्धांजलि अंक का सम्पादन।
- मई, ९४ में हरिद्वार-ऋषिकेश में भविष्य की योजनाओं पर विचार।

हमारा मानना है कि समाज की वर्तमान दुर्दशा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण है समाज की मूल इकाई ग्राम का विघटन। अतः संस्था का दूरगामी उद्देश्य है: ग्रामोदय। इस हेतु संस्था ने एक मुख्यालय भी चुन लिया है। संरक्षक जी के प्रयासों से वहाँ सड़क बननी आरम्भ हो गयी है। संस्था की प्रमुख आगामी योजनाएं हैं :-

- परिषदीय एवं प्रतियोगी परीक्षाओं हेतु विद्यालय के छात्रों का शैक्षिक मार्गदर्शन।
- विद्यालय के छात्रों के साथ 'देश हमारा बने महान' नामक पाक्षिक पत्र का प्रकाशन।
- 'युग-भारती' की वार्षिक पत्रिका 'युग-प्रभा' का त्रैमासिक प्रकाशन।
- सितम्बर, १९९५ में विद्यालय की रजत जयन्ती के अवसर पर दीनदयाल जी की मूर्ति की स्थापना एवं वार्षिकोत्सव का भव्य आयोजन।

इन सभी योजनाओं में आपसे भरपूर सहयोग मिलेगा, इस विश्वास पर ही हम आगे बढ़ रहे हैं। आप निम्नांकित प्रकार से सहयोग कर सकते हैं -

- बैरिस्टर साहब के संबंध में रचनाएं (लेख, संस्मरण, कविता, चित्र इत्यादि) भेजें। रचनाओं की कोटि इत्यादि के बारे में किसी प्रकार का संकोच न करें। आपको अपनी भावनाएं व्यक्त करने का और हमें उनका संग्रह करने का इससे अच्छा अवसर कभी न मिलेगा।
- 'युग-प्रभा' के लिए रचनाएँ एवं विज्ञापन भेजें। रचनाएँ किसी भी प्रकार की हो सकती हैं। अपने क्षेत्र में चल रहे समाज-सेवा, जन-जागरण के सभी कार्यों की विस्तृत जानकारी भेजने का प्रयास करें। विज्ञापन भी भेजें।

विज्ञापन शुल्क

पीछे का पृष्ठ (रंगीन)	:	५०००/-
आवरण के अंदर का पृष्ठ (रंगीन)	:	३०००/-
पूरा पृष्ठ (रंगीन)	:	२०००/-
पूरा पृष्ठ (सादा)	:	१०००/-
आधा पृष्ठ (सादा)	:	५००/-
चौथाई पृष्ठ (सादा)	:	२५०/-

- 'देश हमारा बने महान' के लिए विभिन्न कार्यक्रमों की रपट, रचनाएँ एवं विज्ञापन भेजें।
- मूर्ति स्थापना एवं रजत जयन्ती उत्सव के लिए आर्थिक सहयोग।
- २५ रु० भेजकर आप नीराजन का श्रद्धांजलि अंक व २० रु० भेजकर 'युग-प्रभा' का प्रथम अंक मँगा सकते हैं।
- संस्था के सदस्य बनें। सदस्यता प्रपत्र डाक से मँगा सकते हैं। (वार्षिक शुल्क : जीविकोपार्जक - १०० रु०, अन्य - ५० रु०, आजीवन शुल्क : १००० रु०, शुल्क 'युग-भारती' के नाम पंजाब नेशनल बैंक, आजादनगर, कानपुर पर देय ड्राफ्ट से ही भेजें)
- अपने परिचित अन्य पूर्व छात्रों को तथा युग-भारती के उद्देश्यों से सहानुभूति रखने वाले अन्य महानुभावों को भी सदस्य बनायें।
- संस्था की बैठकों व अन्य कार्यक्रमों में भाग लें।

जड़ता त्यागिये। आप एक बार भी युग-भारती के कार्यक्रमों में सम्मिलित होंगे तो आपको अन्यतम आत्मीयता मिलेगी और आप हमारे साथ कार्य करने को स्वयं उत्सुक हो उठेंगे।

भवदीय

युग भारती के सभी कार्यकर्ता

हमारे साथी

क्र०	नाम	कार्यक्षेत्र	पता	दूरभाष
१.	अनित गर्ग	व्यापार	ई-८०, पॉकेट ई- १५ सेक्टर ८, रोहिणी, नई दिल्ली	—
२.	जितेन्द्र रस्तोगी	व्यापार	अरुण मेडिकल स्टोर, कायमगंज, फर्रुखाबाद	—
३.	राघवेन्द्र कुमार	—	१२६-ए, कल्यानपुर कलाँ, कानपुर	२५१८४२
४.	राजीव वर्मा	बैंकिंग	एम डी १-२५५, सेक्टर डी-१, एल.डी.ए. कालोनी लखनऊ	२५६४६४
५.	राजेश कुमार गर्ग	अद्योग	११२/१६७, स्वरूप नगर, कानपुर	२२४०६३, २६४६७६
६.	राजेश मल्होत्रा	व्यापार	१२०/३०४, लाजपत नगर, कानपुर	२६६८६२, २६७५२०
७.	शशी शर्मा	अभियंत्रण	८/११, आर्यनगर, कानपुर	२६२६६३, ३१७४०३
८.	विनय अजमानी	—	१२२/१४६, सरोजिनी नगर, कानपुर	२२३३१७, २१७८६७
९.	सुरेन्द्र पाल चावला	व्यापार	१२२/१३२, सरोजिनी नगर, कानपुर	५४८२६२, २६६५६७
१०.	अजय गोयल	व्यापार	पृथ्वी दरवाजा, कायमगंज, जिला फर्रुखाबादा	—
११.	ओमप्रकाश मोटवानी	व्यापार	४२/१४०, मेस्टनरोड, कानपुर	२६६०५५
१२.	गोपाल कृष्ण शुक्ल	उद्योग	११/२११, जगननाथ धाम, सूटरगंज, कानपुर	२१०५०६, २१०५०४
१३.	प्रकाश शर्मा	बजरंग दल	—	—
१४.	सुनील गुप्त	चिकित्सा	प्रेमा फ्रैक्चर क्लीनिक, हरजेन्द्र नगर, कानपुर	४१०८०
१५.	सुनील जैन	व्यापार	एम-३८, इंदिरा नगर, कानपुर	२१६२४६, २५०५२४
१६.	सुनील पाटकर	रुद्योग	शक्ति फार्मा, रेलवे रोड, कासगंज	३०३
१७.	स्वतंत्र सिंह	व्यापार	३/१६३, विष्णुपुरी, कानपुर	५४४२५८
१८.	हरीन्द्र त्रिपाठी	थल सेना	इलाहाबाद	—
१९.	अखिल त्यागी	—	३/२१२, विष्णुपुरी, कानपुर	—
२०.	बलराज पासी	सांसद लोक सभा	२०६, नार्थ एवन्यू, नई दिल्ली	—
२१.	विजय अग्रवाल	सी०ए०	२५५, रवीन्द्र सारणी, चारतल्ला, कलकत्ता	२०१२१७, ३८६०१२
२२.	विनेश जैन	व्यापार	मयंक प्लास्टिक्स एफ-२५, कमलानगर, दिल्ली	—
२३.	संजय मिश्र	—	बी-१/६६, सेक्टर पी, लखनऊ	—
२४.	कपिल कपूर	व्यापार	६८७, II स्ट्रीट, राजेन्द्र नगर लखनऊ	—
२५.	नवनीत कुमार	अभियंत्रण	५२०, मेन स्ट्रीट नं. १२०८, माल्डेन, एम.ए. - ०२१४८	६१७-३२२-४५८६
२६.	अतुल मिश्र	—	१/१८२, नवाबगंज, कानपुर	—
२७.	अरविन्द बाजपेई	चिकित्सा	डब्लू ब्लाक, मकान नं० ४१, किदवई नगर, कानपुर	—
२८.	दीपक खन्ना	विपणन	४३६/४०, इन्द्रपुरी, शारदा नगर, कानपुर	२७२७०५
२९.	नीरज कुमार	शोध	डी-११७, छात्रावास ४, आई.आई.टी., कानपुर	२५७३१४
३०.	संजय अस्थाना	अध्यापन-शोध	३/१६, विष्णुपुरी, कानपुर	५४६८१५

३१.	संजय जैसवाल	व्यापार	१२७, ज्वाहर नगर, उन्नाव	—
३२.	प्रमोद पाण्डेय	चिकित्सा	२-ए/१२०, आजाद नगर, कानपुर	—
३३.	प्रदीप शुक्ल	अभियंत्रण	७००, सेक्टर ४, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली	—
३४.	अनुपम त्रिवेदी	—	बी-२६५, चितरंजन पार्क नई दिल्ली	—
३५.	आदित्य अवस्थी	बीमा	१२८/१७६, एच-ब्लाक किदवई नगर, कानपुर	३१२२१०
३६.	दिवाकर गोरे	—	३०३, विकास नगर, कानपुर	२५१५६६
३७.	मलय चतुर्वेदी	चिकित्सा	३/१७५-ए, विष्णुपुरी, कानपुर	—
३८.	विवेक भागवत	अभियंत्रण	११३/१०-ए, स्वरूप नगर, कानपुर	२५६४२०
३९.	विवेक विद्यार्थी	अधिवक्ता	३/२५२, विष्णुपुरी, कानपुर	५४०१६३
४०.	वीरेन्द्र त्रिपाठी	मुक्केबाजी	२-ए/३७६, आजाद नगर, कानपुर	५४३५२०
४१.	अजय शंकर दीक्षित	खान-पान सेवा	१०४-ए/३६६, रामबाग, कानपुर	५४७०४४
४२.	अयोध्या प्रसाद मिश्र	—	३-ए/५७, आजाद नगर, कानपुर	—
४३.	अरविन्द गोरे	व्यापार	३०२, विकास नगर, कानपुर	२५१५६६
४४.	आलोक सिंह	विपणन	बंगला नं. ३, चन्द्र शेखर आजाद कृषि विश्वविद्यालय, कानपुर	५४३४४७
४५.	दिनेश सिंह भदौरिया	अध्यापन	४६/५, श्रमिक बस्ती, नवाबगंज, कानपुर	२६४७६६
४६.	नीरज सिंह	—	१८-बी, विकास नगर, कानपुर	२५०३१२
४७.	प्रवीण अग्रवाल	छायाचित्रण	११२/३५३-ए, स्वरूप नगर, कानपुर	२६२३६१
४८.	प्रवीण खरे	व्यापार	८६ए, विकास नगर, कानपुर	२५०६८८
४९.	मनीष गुप्त	छायाचित्रण	२-ए/४८६, आजाद नगर, कानपुर	५४७४५४, ५४१८६२
५०.	राजीव खण्डेलवाल	—	११७/क्यू/२२७, शारदा नगर, कानपुर	२५१२२१
५१.	संजय कुमार सिंह	अध्यापन	२०-/११, विष्णुपुरी कालोनी, कानपुर	५४६८४८
५२.	संदीप अस्थाना	भवन निर्माण	३/१६, विष्णुपुरी कानपुर	५४६८१५
५३.	अरविन्द कुमार पाठक	—	११८/२१६, गुमटी नं. ५, कानपुर	२६८५००
५४.	राजीव कुमार मिश्र	—	एम.आई.जी. ६७, नेहरू नगर बिलासपुर एम०पी०	५००७
५५.	अनिल महाजन	अभियंत्रण	३३/१२, ब्लाक-४, गोविन्द नगर, कानपुर	२६८३३१
५६.	दीपक गंगल	अभियंत्रण	एफ-४०४, समायुक्त सोसाइटी, कोल डोंगरी, लेन - २, बम्बई	५७८१४०१
५७.	प्रतीप कुमार दुबे	अध्ययन	२११-ए छात्रावास -४, मेडिकल कॉलेज, कानपुर	२६६६४८
५८.	शरद कृष्ण पाण्डेय	अधिवक्ता	११८/६१८, कौशलपुरी, कानपुर	२६५७६७
५९.	सर्वेश अस्थाना	अभियंत्रण	३/१६, विष्णुपुरी, कानपुर	५४६८१५
६०.	हर्ष त्रिपाठी	श्रवण विशेषज्ञ	एम.आई.जी.-५३, ब्लाक-एच,पॉकेट१८, सेक्टर-७ रोहिणी, ६३	—
६१.	अनीश भाटिया	उद्योग	६/४-ए, कृष्णा नगर, कानपुर	—
६२.	चावली रमेश	शोध	ई-२०७, छात्रावास -४, आई.आई.टी., कानपुर	—
६३.	धर्मेन्द्र खुराना	वायुसेना	वायुसेना स्टेशन, येलहंका, बैंगलौर	८४६०३५१
६४.	प्रवीण भागवत	शोध	संगणक विज्ञान विभाग, मैरीलैंड विश्वविद्यालय, मैरीलैंड, अमेरिका	३०१-४४१-८५७६

६५.	मृत्यंजय मिश्र	पत्रकारिता	१०८/११५-ए, दुर्गादेवी मार्ग, गांधी नगर, कानपुर	—
६६.	संजय शर्मा	व्यापार	८८/५३४, प्रेम नगर, कानपुर	३१६४६६, ५४२१८७
६७.	संतोष कुमार	अध्ययन	१२, छात्रावास -१, मेडिकल कॉलेज, कानपुर	—
६८.	हृदेश गुप्ता	अभियंत्रण	१२६, एम.आई.जी. बर्रा-२, सेक्टर -३, कानपुर	२२२३६५
६९.	कैलाश जोशी	अध्यापन	पं० दीनदयाल उपाध्याय विद्यालय, नवाबगंज, कानपुर	२६४७६६
७०.	मनीष कृष्ण	अधिवक्ता	२ए/१८४, आजाद नगर, कानपुर	५४१६६८
७१.	प्रवीण पाण्डेय	अध्ययन	सी-२०३, छात्रावास-४ आई.आई.टी. कानपुर	—
७२.	राजीव पाण्डेय	अध्यापन	३३/८, विष्णुपुरी कालोनी, कानपुर	५४६६०१
७३.	अमित गुप्त	अभियंत्रण	१/१, ई, नवाबगंज, कानपुर	
७४.	प्रदीप बाजपेई	अध्यापन	टी- II/१४६, मेडिकल कॉलेज कैम्पस, कानपुर	२६४७६६
७५.	शुभेन्द्र सिंह परिहार	अध्ययन	—	—
७६.	अभिषेक	अध्ययन	एफ-३०७, छात्रावास -१, आई.आई.टी., कानपुर	—
७७.	आशीष कुमार सिंह	अध्ययन	एफ-३२३, छात्रावास -१, आई.आई.टी., कानपुर	—
७८.	राजेन्द्र सिंह चौहान	अध्ययन	एफ-३२२, छात्रावास -१, आई.आई.टी., कानपुर	—
७९.	संतोष कुमार मल्ल	अध्ययन	जी-२१५, थात्रावास -४, आई.आई.टी., कानपुर	—
८०.	दिनेश प्रताप सिंह	अध्ययन	चरखारी मार्ग, नई बस्ती, राठ, जिला हमीरपुर	—
८१.	अनुराग गुप्त	अध्ययन	द्वारा श्री ओमशंकर गुप्त, मूसा नगर, कानपुर देहात	—
८२.	अनुराग चतुर्वेदी	अध्ययन	३/११४, विष्णुपुरी, कानपुर	—
८३.	निमेष यादव	अध्ययन	६७/८, जूही लाल कालोनी, कानपुर	३१३१७८
८४.	निर्मल कुमार श्रीवास्तव	अध्ययन	२/४८२, आजाद नगर, कानपुर	५४१६६७
८५.	विशाल गुप्त	अध्ययन	१०/२१८, खलासी लाईन, कानपुर	—
८६.	वैभव श्रीवास्तव	अध्ययन	३ए/२६०, आजाद नगर कानपुर	५४४७०८
८७.	जय कुमार सिंह	अध्ययन	५१/१०, विष्णुपुरी कालोनी, कानपुर	—
८८.	अमित प्रकाश गुप्त	अध्ययन	७४/११६ए, धनकुट्टी, कानपुर	—
८९.	उपेन्द्र सिंह	अध्ययन	२१/६, विष्णुपुरी कालोनी, कानपुर	—
९०.	दीपक कुमार मिश्र	अध्ययन	३/१०, सुपरवाइजरस क्वार्ट्स, कृषि विश्वविद्यालय, कानपुर	—
९१.	मोहित शर्मा	अध्ययन	७६/४७८, कुली बाजार, कानपुर	—
९२.	सिद्धार्थ श्रीवास्तव	अध्ययन	२ए/८८, आजाद नगर, कानपुर	—
९३.	सुनील कुमार पाण्डेय	अध्ययन	३ए/३५, आजाद नगर, कानपुर	५४८३२६
९४.	राम किंकर शर्मा	अध्ययन	८३/४, विष्णुपुरी कालोनी कानपुर	—

"भगवान अनंत शक्तिमान है। मेरा विश्वास है कि वो मेरी सहायता करेगा। मैं मर भले ही जाऊँ, परन्तु, युवकों! मैं गरीबों, मूखों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और उत्कट प्रयत्न को थाती के रूप में तुम्हें अपर्ण करता हूँ।

जाओ, इसी क्षण जाओ, उस पार्थसारथी के मंदिर में, जो गोकुल के दीन-हीन ग्वालों के सखा थे, जो अन्त्यज और चाण्डाल को भी गले लगाने में नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्धावतार काल में अमीरों का निमन्त्रण अस्वीकार कर एक वाराङ्गना का निमंत्रण स्वीकार किया और उसे उबारा। जाओ उनके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो, और उनके सम्मुख एक महाबलि दो, अपने समस्त जीवन की बलि दो उन दीन-हीनों और उत्पीड़ितों के लिये, जिनके लिए भगवान युग-युग में अवतार लिया करते हैं और जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं। और तब प्रतिज्ञा करो कि अपना सारा जीवन इन कोटि-२ लोगों के उद्धार कार्य में लगा दोगे, जो दिनों दिन अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं।"

-स्वामी विवेकानन्द

कार्यकारिणी

संरक्षक	:	श्री ओमशङ्कर
संरक्षण समिति	:	राजेश गर्ग
		सुनील गुप्त
		गोपाल कृष्ण शुक्ल
अध्यक्ष	:	नीरज कुमार
उपाध्यक्ष	:	संजय अस्थाना
महामंत्री	:	वीरेन्द्र त्रिपाठी
मंत्री	:	दिनेश सिंह भदौरिया
कोषाध्यक्ष	:	प्रवीण अग्रवाल
संगठन सचिव	:	प्रदीप वाजपेयी
बौद्धिक सचिव	:	कैलाश जोशी
योजना सचिव	:	अनिल महाजन
व्यवस्था सचिव	:	अजय शंकर दीक्षित
सदस्य	:	विवेक भागवत
		विवेक विद्यार्थी
		चावली रमेश
		मनीष कृष्ण
		शुभेन्द्र सिंह परिहार
		संतोष कुमार मल्ल
		आशीष कुमार सिंह

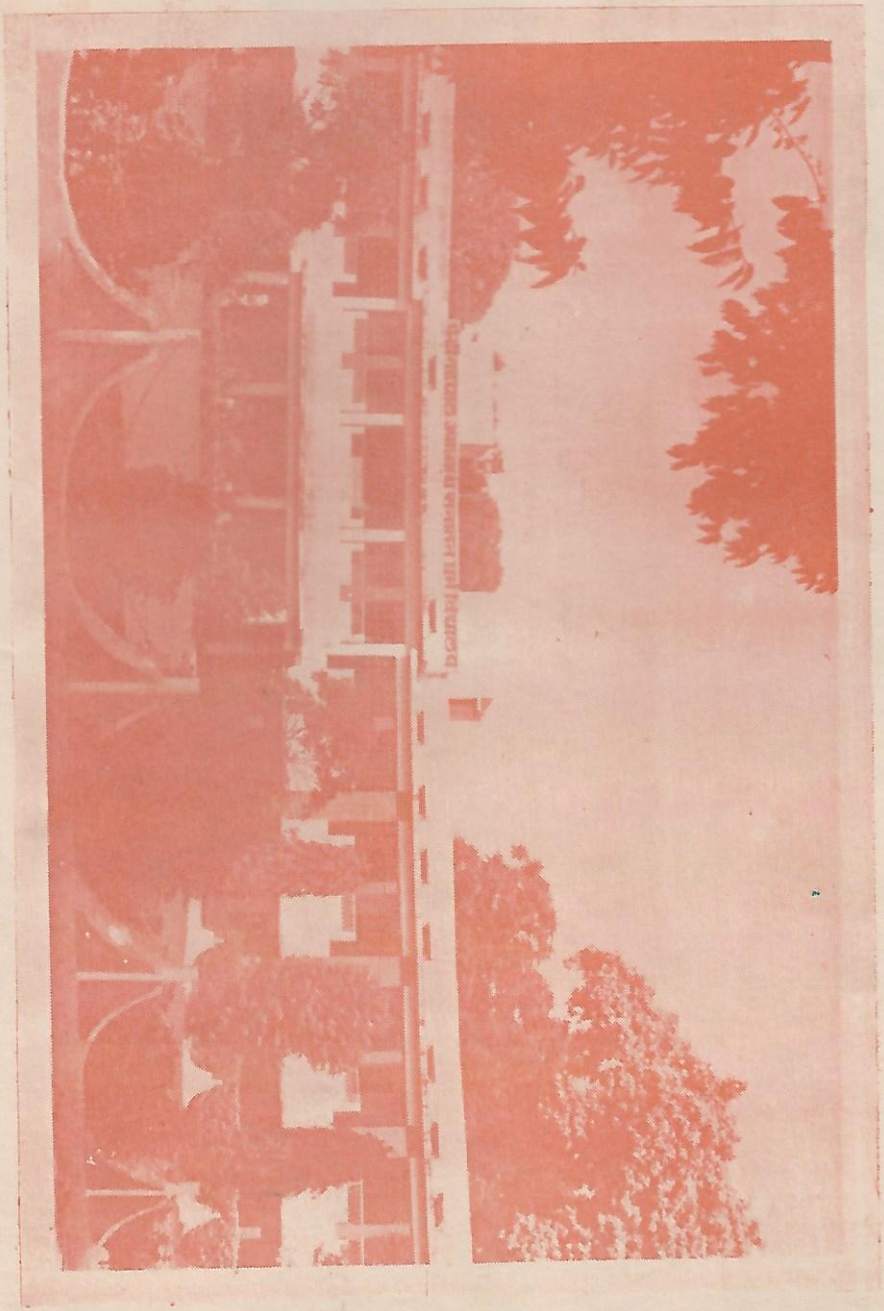

अक्षर संयोजन, सज्जा एवं मुद्रण
प्रिन्ट एड, ७ विश्वनाथधाम गदा रोड, ग्वालटोली कानपुर फोन : २६१०५६, २६१०७४